# अनुसंधान की प्रक्रिया

सम्पादक

डा० सावित्री सिन्हा डा० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण
जून, १९६०

मूल्य
पांच रुपए

मुद्रक
बालकृष्ण, एम. ए.,
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली

# हमारी योजना

'अनुसन्धान की प्रक्रिया' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रंथमाला का बीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं: हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिनपर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं— (१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, तथा (७) (होरेस-कृत) काव्यकला। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास, (३) सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धांत और साहित्य, (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, तथा (१०) मतिराम: कवि और आचार्य। तीसरे वर्ग का अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस माला का पहला ग्रन्थ है 'अनुसन्धान का स्वरूप' जिसमें अनुसंधान के स्वरूप और विषय-क्षेत्र आदि का अधिकारी विद्वानों द्वारा सैद्धांतिक विवेचन किया गया है। दूसरा ग्रंथ 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' अनुसन्धान के व्यवहार-पक्ष को लेकर लिखा गया है जिसका मूल उद्देश्य हिन्दी के अद्यावधि स्वीकृत शोध-प्रबन्धों का कालक्रमानुसार

व्यवस्थित विवरण उपस्थित करना है। इसी वर्ग का यह तीसरा ग्रन्थ आपके सामने है। यह दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी-अनुसन्धान-गोष्ठी (मई, १९५९) के तत्त्वावधान में आयोजित अभिभाषणों का संकलन है जिनके अन्तर्गत सिद्धान्त-पक्ष अर्थात् अनुसन्धान के विविध प्रकार-भेद, प्रविधि, प्रगति आदि का तात्त्विक विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित सम्पूर्ण विचार-निधि विद्वान लेखकों की ही है—परिषद् ने तो केवल मालाकार का काम किया है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।
१५ मई, १९६०।

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

# भाषणानुक्रम

# सम्पादकीय

आज से लगभग आठ वर्ष पूर्व दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्वावधान में 'हिन्दी अनुसंधान परिषद्' की स्थापना हुई थी। परिषद् ने प्रारम्भ से ही अन्य कार्यों के साथ अपने उद्देश्यों में अनुसंधान की प्रविधि और प्रक्रिया के विवेचन को प्रमुख रूप से समाविष्ट किया हुआ है। इस दिशा में परिषद् का प्रथम प्रयास 'अनुसंधान का स्वरूप' प्रकाशन था। इस पुस्तक में अनुसंधान से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले अनुभवी विद्वानों के सारगर्भित लेख संकलित हैं जिनमें अनुसंधान के सैद्धान्तिक स्वरूप का विभिन्न दृष्टिविन्दुओं से उद्‌घाटन हुआ है। हमें प्रसन्नता है कि अपने क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास होने पर भी नये-पुराने सभी वर्ग के अनुसंधाताओं ने इस पुस्तक से लाभ उठाया और पुस्तक को व्यापक सम्मान प्राप्त हुआ। वस्तुतः इस पुस्तक के माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान का कार्य करने वाले अनुसंधाताओं तथा निर्देशकों का परिषद् के साथ परोक्ष रूप से सम्पर्क स्थापित हो गया। 'अनुसंधान का स्वरूप' प्रकाशित होने के बाद परिषद् ने इस प्रश्न पर और अधिक गंभीरता के साथ विचार किया तथा अनुसंधित्सुओं की कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर उनके समाधान के लिए व्यापक स्तर पर एक अनुसंधान-गोष्ठी के आयोजन का निश्चय किया। उसी निश्चय के अनुसार मई सन् १९५९ में हिन्दी अनुसंधान परिषद् के तत्वावधान में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-अनुसंधान-गोष्ठी का द्वादश-दिवसीय अधिवेशन दिल्ली में सम्पन्न हुआ।

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से हिन्दी-अनुसंधान-क्षेत्र में जैसी उत्साह-वर्धक जागरूकता दृष्टिगत हो रही है वैसी हिन्दी भाषा और साहित्य के किसी अन्य क्षेत्र में दिखाई नहीं देती। परिमाण एवं गुणवत्ता दोनों की दृष्टियों से शोध-ग्रंथों की संख्या आज के प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य में अपना विशेष महत्व रखती है। भारतवर्ष के लगभग बीस विश्वविद्यालयों में सम्प्रति हिन्दी-अनुसंधान का कार्य बड़ी द्रुतगति से हो रहा है, और उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की संख्या प्रतिवर्ष चालीस-पचास के बीच होती है। अनुसंधान-

विषयक इस सामूहिक चेतना से जहाँ एक ओर हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि हुई है, वहाँ अनुसंधान के क्षेत्र में कतिपय गंभीर, जटिल एवं विचारणीय समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। इन समस्याओं को स्थूलतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले भाग की समस्याओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुसंधाताओं के साथ है। अनुसंधान प्रारम्भ करने से पूर्व विषय-निर्वाचन और अनुसंधान प्रारम्भ करने पर अनुसंधान की प्रविधि एवं प्रक्रिया का परिज्ञान, सामग्री-संकलन के लिए विविध स्रोतों का दोहन, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का अनुशीलन, प्राचीन ग्रंथों का पाठालोचन अनुसंधान की विभिन्न सरणियों का अध्ययन प्रत्येक अनुसंधाता के लिए अनिवार्य होता है। जिज्ञासा या विचिकित्सा मात्र से सत्यानुसंधान संभव नहीं है। अतः प्रत्येक अनुसंधित्सु के सामने सामान्य प्रक्रिया एवं प्रविधि के बोध का प्रश्न प्रारम्भ में ही उपस्थित होता है। यह एक प्रारम्भिक कठिनाई है जिसका समुचित समाधान हुए बिना कोई भी अनुसंधाता अपने उद्देश्य में पूर्णकाम नहीं हो सकता।

दूसरे भाग की समस्याओं का सम्बन्ध विश्वविद्यालयों तथा निर्देशकों से है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में होने वाले शोधकार्य में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होते हुए भी केन्द्रीय शोध-प्रतिष्ठान के अभाव में अभी तक सम्भव नहीं हुआ है। साथ ही हिन्दी-अनुसंधान की व्यवस्थित योजना भी अभी तक तैयार नहीं हो सकी है। ये समस्याएँ सार्वदेशिक महत्व की हैं। इनके समाधान के लिए पर्याप्त समय और साधन अपेक्षित हैं। अतः दिल्ली विश्वविद्यालय की 'हिन्दी अनुसंधान परिषद्' ने अनुसंधाता-वर्ग की समस्याओं तक ही अपने कार्य को सीमित रखकर उक्त अनुसंधान गोष्ठी का आयोजन किया।

गोष्ठी की रूपरेखा तैयार करने के बाद यह निर्णय किया गया कि इसे औपचारिक रूप देने के लिए इसके सदस्य विधिवत् नामांकित किए जाएँ, इसी प्रकार प्रेक्षक-सदस्य भी नामांकित होकर ही गोष्ठियों में सम्मिलित हों और गोष्ठी का समस्त कार्यक्रम समाप्त होने के बाद जिन सदस्यों ने नियमानुसार भाषणों तथा परिसंवादों में उपस्थित रहकर लाभ उठाया है उन्हें प्रमाणपत्र भी प्रदान किये जायें।

गोष्ठी के भाषणों के लिए विषय-निर्वाचन करते समय इस तथ्य पर विशेष ध्यान रखा गया कि उन विषयों को प्राथमिकता दी जाय जिनकी अनुसंधित्सुओं के मार्ग-दर्शन के लिए अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है। फलतः प्रारम्भिक दो भाषण 'हिन्दी-अनुसंधान की प्रगति' के विवेचन-विश्लेषण के

निमित्त कराये गये। ये भाषण अब तक के समस्त शोधकार्य का आकलन प्रस्तुत करने के साथ अनुसंधित्सुओं को पुनरावृत्ति से बचकर नवीन अनुसंधेय विषयों की ओर इंगित करने वाले हैं। इन भाषणों में हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक अनुसंधान का समीक्षात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

'साहित्यिक अनुसंधान के प्रकार' शीर्षक भाषण में वस्तु, भाव, विचार, कला तथा भाषा भेद से विविध प्रकार के अनुसंधानों पर प्रकाश डाला गया है। पाठ और इतिहास के भेद भी इस भाषण में स्पर्श किये गये हैं; किन्तु, ये दोनों स्वतंत्र-रूप से भी भाषणों के विषय चुने गये थे अतः इन पर विस्तार से उन्हीं भाषणों में विचार हुआ है।

'विषय-निर्वाचन' की समस्या प्रायः प्रत्येक नये अनुसंधाता के सामने गंभीर रूप में आती है। विषयों की विविधता एवं विपुलता को देखते हुए अनुसंधित्सु को उनमें से अपनी अभिरुचि, योग्यता और क्षमता के अनुरूप विषय-चयन करना सुगम नहीं रहा है। अतः इस विषय पर दो भाषणों का प्रबंध किया गया। इन भाषणों में विद्वान् वक्ताओं ने विषय-निर्वाचन के सभी पक्षों पर सन्तुलित विचार व्यक्त कर अनुसंधित्सुओं का उचित पथ-प्रदर्शन किया है।

'अनुसंधान और आलोचना' का भेद और पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य अनुसंधाता के लिए कठिन पहेली है। किसी कृति का बहिरंग परीक्षण अथवा तथ्यान्वेषण ही अनुसंधान की सीमा नहीं है, आलोचनात्मक विश्लेषण भी अनुसंधान है और वास्तव में यही उसका प्राण-तत्व है। ज्ञान का विस्तार करने में आलोचनात्मक विश्लेषण का योग किसी मात्रा में न्यून नहीं समझना चाहिए। आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना उत्कृष्ट अनुसंधान संभव नहीं है अतः शोधार्थी को अनुसंधान में प्रवृत्त होने पर इस तथ्य को हृदयंगम कर लेना चाहिए। इस भाषण में तथ्यपरक तथा तत्वपरक शोध का साम्य-वैषम्य प्रदर्शित करते हुए दोनों की अनिवार्यता पर शास्त्रीय पद्धति से गंभीर विचार व्यक्त किये गये हैं।

'शोध-सामग्री' शीर्षक भाषण की उपादेयता भी स्वयंसिद्ध है। सामग्री-संकलन की समस्या प्रत्येक अनुसंधाता के सामने आती है। जब तक अनुसंधाता को स्रोतों का सम्यक् ज्ञान न होगा, वह सामग्री जुटाने में समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार ज्ञान के स्रोत अनन्त हैं उसी प्रकार अनुसंधान में प्रवृत्त जिज्ञासु शोधार्थी के सामने सामग्री-संकलन के स्रोतों की भी इयत्ता नहीं है। प्राचीन हस्तलेख, शिलालेख, ध्वंसावशेष, पुराण, इतिहास, अनुश्रुति, किम्वदन्ती

समाज-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, नृतत्व-विज्ञान, लोक-साहित्य, लोक-भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक-रूढ़ि, काव्य-रूढ़ि आदि विविध स्रोतों के दोहन और अवगाहन द्वारा शोध-सामग्री का संकलन करना होता है। इस भाषण का उद्देश्य अनुसंधाताओं को उनसे परिचित कराना है ताकि वे शोध-कार्य में प्रवृत्त होने पर इन सभी निकायों पर दृष्टि रखकर कार्य-तत्पर हों।

'पाठानुसंधान' अनुसंधान-क्षेत्र की एक वैज्ञानिक एवं अपेक्षाकृत दुरूह प्रक्रिया है। हिन्दी में पाठानुसंधान का अभी श्रीगणेश ही समझना चाहिए, अतः ऐसे विषय पर अनुसंधाताओं का पथ-प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। हस्तलेख अथवा मुद्रित रूप में प्राप्त सामग्री की बहिरंग एवं अंतरंग परीक्षा करने की पद्धति पाठानुसंधान का प्राण है। विविध पाठों में सम्बन्ध-निर्धारण द्वारा संगति स्थापित कर अन्तिम पाठ-चयन तथा खंडित पाठ में सुधार एवं अपने उपलब्ध परिणामों की सत्यता ही पाठानुसंधान का उद्देश्य है। इस भाषण द्वारा अनुसंधाताओं के समक्ष मूलभूत आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है।

'भाषावैज्ञानिक अनुसंधान' का कार्य हिन्दी में संभवतः साहित्यिक अनुसंधान से पहले प्रारंभ हुआ था। विदेशों में भी अनुसंधान के क्षेत्र में भाषा-विज्ञान की शोध अपेक्षाकृत पुरानी है। भारतीय भाषाओं का ग्रियर्सन, यूल ब्लाख, टर्नर, टैसेटरी आदि विदेशी विद्वानों ने वैज्ञानिक शैली से अध्ययन प्रस्तुत कर इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है। हिन्दी भाषा के क्षेत्र में बोलियों अथवा जनपदीय भाषाओं के अध्ययन की परम्परा चल पड़ी है और अनेक शोधार्थी इस ओर प्रवृत्त हैं। अतः यह उचित समझा गया कि इस विषय पर भी अधिकारी विद्वानों के भाषण कराये जायें। इस विषय के सविस्तर ज्ञान के लिए 'भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन' शीर्षक एक लेख भी जोड़ दिया गया है। इस लेख से भाषावैज्ञानिक अनुसंधान करने वालों को अब तक हुए अध्ययन की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में इतिहास का योगदान असंदिग्ध है। हिन्दी का समस्त साहित्य विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में रचा गया है, अतः पृष्ठ-भूमि के रूप में ही नहीं उसके विकास और प्रसार के लिए भी इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यथार्थ में इतिहास का कार्य मानव के समस्त अनुभव एवं उसकी समस्त उद्भावनाओं की जाँच करना है। यदि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है तो उसे इतिहास-रूपी दर्पण में ही भली भाँति देखा जा सकता है। अतएव साहित्य के अध्ययन और अनुसंधान में उसका विधिवत् उपयोग कैसे किया जाय यह प्रश्न अनुसधाता के लिए बहुत महत्व रखता है। इसी दृष्टि से 'इतिहास और

साहित्य' विषय पर एक भाषण का प्रबंध किया गया।

अंतिम भाषण 'अनुसंधान की प्रक्रिया और प्रविधि' जो इस भाषणमाला का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण है—शोध के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले अनुसंधित्सुओं के लिए अनेक दृष्टियों से उपादेय है। शोध प्रारम्भ करने से लेकर शोध-कार्य समाप्त करने तक अनुसंधाता को किस प्रक्रिया का पालन करते हुए कार्य करना चाहिए, यही इस भाषण का उद्देश्य है। यह ठीक है कि 'अनुसंधान' के क्षेत्र में प्रक्रिया केवल साधन मात्र है, साध्य नहीं, किन्तु इस साधन की अवहेलना करके किसी शोधार्थी को सच्ची सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अनुसंधाता सत्यान्वेषी है, किन्तु हिरण्यमय पात्र से सत्य का मुख पिहित होने से सत्य को पा लेना सहज नहीं है। मिथ्याचार, भ्रान्ति, असंगति आदि से कंटकाकीर्ण इस दुर्गम पथ पर चलते समय अनुभवी निर्देशक का पथ-प्रदर्शन सुलभ हो गया तो कठिनाइयाँ कुछ कम हो जाती हैं—अन्यथा उसके लिए दुर्द्धर्ष अध्यवसाय एवं अध्ययन द्वारा भी गन्तव्य सत्य तक पहुँचना कठिन होता है। कार्यारम्भ से कार्य-समाप्ति तक प्रक्रिया एवं प्रविधि का आश्रय लेकर चलने वाला शोधार्थी ही निर्दिष्ट पथ से निर्दिष्ट काल में निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त करता है। इस भाषण में प्रक्रिया के छोटे-बड़े सभी अवयवों का उद्घाटन हुआ है। हमारा विश्वास है कि इस भाषण में व्यक्त पद्धति के अनुगमन से अनुसंधाता अनेक भ्रान्तियों और कठिनाइयों से बच सकता है।

गोष्ठी के कार्यक्रम को सफल बनाने में हमें भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों, विभागाध्यक्षों, प्राध्यापकों तथा अनुसंधाताओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। हम इस सहयोग के लिए सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता और आभार प्रकट करते हैं। विद्वान् वक्ताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। ज्येष्ठ मास की प्रचंड गर्मी में सुदूरवर्ती स्थानों से लम्बी यात्रा करके दिल्ली आना ही कम कष्टप्रद नहीं था, किन्तु यहाँ आकर अपने विद्वत्तापूर्ण अभिभाषणों से बौद्धिक श्रम करना तो और भी अधिक कठिन कार्य था। माननीय वक्ताओं ने अपने भाषणों के अतिरिक्त गोष्ठियों की अध्यक्षता करके भी अनुसंधान परिषद् को उपकृत किया, जिसके लिए हम अतिरिक्त आभार व्यक्त करना चाहते हैं।

अन्त में, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अधिकारियों तथा दिल्ली-विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना भी हमारा धर्म है। आयोग के अनुदान से तथा डा० राव के

प्रेरणापूर्ण परामर्शों से ही यह अनुष्ठान विधिवत् पूर्ण हो सका। हमारे जिन बन्धुओं ने विभिन्न विश्वविद्यालयों से प्रतिनिधि भिजवाने में हमें सहयोग दिया तथा जिन सहयोगियों ने आवास, आतिथ्य, परिवहन आदि की व्यवस्था में हाथ बटाया उनके हम हृदय से आभारी हैं।

—सम्पादक

डा० हरवंशलाल शर्मा

# हिन्दी अनुसंधान की प्रगति—(१)

## [प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध]

मेरा विषय है 'हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति'—(प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य से सम्बद्ध)। विषय बड़ा व्यापक और महत्वपूर्ण है। एक प्रकार से हिन्दी अनुसंधान-कार्य के एक बड़े भाग का इतिहास और विश्लेषण प्रस्तुत करना है। साधारण रूप से हिन्दी साहित्य का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया गया है—१—प्राचीन, २—मध्य और ३—आधुनिक। मध्यकाल दो भागों में विभक्त है—भक्तिकाल तथा रीतिकाल। परन्तु यह विभाजन कई दृष्टियों से अपूर्ण और अवैज्ञानिक है। विभाजन के सम्बन्ध में वाद-विवाद प्रासंगिक नहीं है। प्रस्तुत विषय अनुसन्धान की प्रगति पर विचार करना है। अनुसन्धान की सीमाएँ इतिहास की सीमाओं को उस रूप में स्वीकार भी नहीं करती हैं जिस रूप में इतिहास को प्रस्तुत करने की परम्परा है। दूसरे साहित्य के इतिहास की सीमाओं में स्थिरता और शृंखलाबद्धता की कल्पना भी व्यर्थ है। फिर भी विवेचन-सौकर्य और विषय-संबद्धता के लिए हमें इतिहास की सीमाओं का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हिन्दी अनुसन्धान का क्षेत्र साहित्य की निर्धारित सीमाओं को लाँघ चुका है और आगे और भी अधिक संभावना है। अनुसंधान के क्षेत्र में प्राचीनकाल का अभिप्राय केवल आदिकाल सं० १०५० से १३७५ वि० नहीं है। भाषिक शोध की दृष्टि से ही हिन्दी का प्राचीनकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक पहुँच जाता है और यदि ध्वनि, अर्थ-विचार, रूप-विकास आदि पर विचार करें तो उसकी सीमाएँ वैदिककाल तक बद्धमूल प्रतीत होती हैं। शुद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी अनुसन्धान के क्षेत्र को

किन्हीं निश्चित सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। बात यह है कि भाषा और साहित्य या वाङ्मय एक अविच्छिन्न और अविभाज्य धारा है जो कभी मन्द और कभी तीव्र गति से अव्याहत रूप में प्रवहमान है। देश और काल की सीमाएँ उसके लिए अस्वीकार्य हैं। इसलिए किसी भी भाषा अथवा साहित्य का अनुसन्धान-कार्य तब तक अपूर्ण ही माना जायेगा जब तक उसमें सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप से विचार नहीं किया जायगा—चाहे वह विचार आनुषंगिक ही क्यों न हो। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काव्य का विश्लेषण भारतवर्ष की अन्य भाषाओं के भक्ति-काव्य के विचार के बिना अपूर्ण ही माना जायगा। साथ ही साथ विश्व के समकालीन भक्ति-काव्य पर विचार भी उसके लिए आवश्यक होगा। पर इतनी व्यापकता होते हुए भी अनुसन्धान के कार्य में उच्चकोटि की वैज्ञानिकता और सीमाबद्धता अपेक्षित है। इसीलिए इस विरोधाभास के कारण अनुसन्धान का कार्य बड़ा दुरूह, श्रमसाध्य और दुस्तर है। यहाँ हम केवल हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति पर ही विचार कर रहे हैं—उसका मूल्यांकन या प्रविधि-निर्देश आगे के भाषणों में विस्तार से होगा। मैं इस भाषण को विशेष रूप से प्रगति तक ही सीमित रखूंगा।

हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य को लेकर जो अनुसन्धान-कार्य हुआ है उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। इस अव्यवस्था का अर्थ यह नहीं है कि वह कार्य निम्नकोटि का है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उस सम्पूर्ण कार्य के पीछे कोई सुसंबद्ध योजना नहीं है; इसीलिए उसमें कुछ पिष्टपेषण, कुछ विशृंखलता और कुछ असम्बद्धता प्रतीत होती है। हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा-प्रणाली तथा उनका शासन-संगठन ही इस अव्यवस्था के मूल कारण हैं। भारतीय विद्वान् में मनीषा की प्रखरता और प्रतिभा का चमत्कार विद्यमान है पर उनके उपयोग के अवसर नहीं हैं। अब समय आ गया है जब अन्तर्-विश्वविद्यालयीय स्तर पर हमें इन बातों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

## हिन्दी-अनुसंधान का प्रारंभ

हिन्दी में अनुसन्धान का कार्य गत ४० वर्षों से हो रहा है और अब तक लगभग २७५ प्रबन्ध भारतीय तथा भारतेतर विश्वविद्यालयों में शोध-उपाधियों के लिए स्वीकृत किए जा चुके हैं और लगभग ४५० शोध-विषयों पर कार्य कराया जा रहा है। भाषा, साहित्य, संस्कृति और ग्रन्थ-संपादन सम्बन्धी अनेक विषयों पर हिन्दी अनुसन्धान का कार्य भारत के लगभग बीस विश्वविद्यालयों में हो रहा है। इनके अतिरिक्त अमेरिका, इंगलैंड, फ्रान्स,

जर्मनी आदि के विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी-अनुसंधान का कार्य कराया जा रहा है। हिन्दी-अनुसंधान की अद्यतन प्रगति हमारे लिए हर्ष, सन्तोष और गर्व का विषय हो सकती है, किन्तु अब समय आ गया है कि हम पीछे मुड़कर भी देखें और गत का पुनः परीक्षण करते हुए उसकी उपलब्धियों, अभावों और त्रुटियों पर विचार करें। तभी आगत और अनागत समय में हमारा सारस्वत अनुष्ठान सच्चे अर्थों में सफल एवं प्रगतिशील कहा जा सकता है।

दर्शन, धर्म और संप्रदाय को हम संस्कृति के अन्तर्गत मान सकते हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी-सम्बन्धी सबसे प्रथम अनुसंधान-कार्य संस्कृति के क्षेत्र में हुआ। इसके उपरान्त भाषा और फिर मध्यकालीन काव्य-विषयक शोध-प्रबन्ध लिखे गये। ऐसे सभी कार्यों का श्रीगणेश यूरोप के विश्वविद्यालयों में ही हुआ। सबसे पहला शोध-कार्य श्री जे० एन० कारपेण्टर ने तुलसीदास के धर्मदर्शन पर किया था और उन्हें सन् १९१८ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से शोध-उपाधि प्राप्त हुई थी। फिर ग्यारह वर्ष के पश्चात् सन् १९३० ई० में श्री मोहिउद्दीन कादरी को हिन्दुस्तानी ध्वनियों पर लन्दन से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह हिन्दी का दूसरा शोध-प्रबन्ध है जिसे भाषा-क्षेत्र की दृष्टि से प्रथम प्रबन्ध भी माना जा सकता है। श्री जनार्दन मिश्र ने 'सूरदास का धार्मिक काव्य' विषय पर सन् १९३४ ई० में कोनिग्सबर्ग से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। प्राप्त सूचनाओं और आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालय सन् १९१८ ई० से १९५४ ई० तक हिन्दी में शोध-कार्य कराते रहे हैं और अब भी करा रहे हैं। इन ३६ वर्षों के अन्तर्गत लन्दन, पेरिस और कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालयों से संस्कृति, भाषा, काव्य, काव्यशास्त्र, साहित्य का इतिहास और सम्पादन के क्षेत्रों में निम्नांकित संख्याओं में शोध-उपाधियाँ दी जा चुकी हैं—संस्कृति में २, भाषा में ३, काव्य में २, काव्यशास्त्र में १, साहित्य के इतिहास में १, संपादन में २।

भाषा के क्षेत्र में विदेशी विश्वविद्यालय से हिन्दी में सर्वप्रथम शोध-उपाधि पाने वाले सज्जन डा० मोहिउद्दीन कादरी हैं और साहित्य के क्षेत्र में श्री जे० एन० कारपेण्टर ने शोध-उपाधि प्राप्त की थी। भारतीय विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम शोध-उपाधि प्राप्त करने वाले सज्जन डा० बाबूराम सक्सेना हैं। आपने सन् १९३१ में 'अवधी के विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। साहित्य के क्षेत्र में भारतीय विश्वविद्यालय के सर्व प्रथम डाक्टर श्री (अब स्वर्गीय) पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल थे। आपने काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय से सन् १९३४ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। आपके शोध का विषय था—'निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोइट्री।'

प्रारम्भ में काशी और आगरा विश्वविद्यालयों में शोध-उपाधि केवल डी० लिट्० ही थी। कुछ काल उपरान्त इन दोनों विश्वविद्यालयों में तथा कुछ अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० की उपाधि भी दी जाने लगी। कलकत्ता और प्रयाग विश्वविद्यालय में डी० फिल० की उपाधि दी जाती थी और इस समय भी दी जाती है। भारतीय विश्वविद्यालयों से सर्वप्रथम डी० लिट्० और पी-एच० डी० प्राप्त करने वाले महानुभावों के नाम इस प्रकार हैं जिन्हें सन्, अनुसंधाता, विषय और उपाधि की दृष्टि से यहाँ अंकित किया गया है :—

**प्रयाग विश्वविद्यालय**

| सन् | अनुसन्धाता | विषय | उपाधि |
|---|---|---|---|
| १९३१ | श्री बाबूराम सक्सेना | अवधी का विकास | डी० लिट्० |
| १९४० | श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय | आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० से १९०० ई० तक) | डी० फिल० |

**काशी विश्वविद्यालय**

| सन् | अनुसन्धाता | विषय | उपाधि |
|---|---|---|---|
| १९३४ | श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल | हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय | डी० लिट्० |
| १९५२ | सुश्री शकुन्तला दुबे | हिन्दी-काव्य-रूपों का उद्भव और विकास | पी-एच० डी० |

**आगरा विश्वविद्यालय**

| सन् | अनुसन्धाता | विषय | उपाधि |
|---|---|---|---|
| १९३९ | श्री हरिहरनाथ हुक्कू | रामचरितमानस के विशिष्ट सन्दर्भ में तुलसीदास की शिल्प-कला का अध्ययन | डी० लिट्० |
| १९४७ | श्री सोमनाथ गुप्त | हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास | पी-एच० डी० |

**नागपुर विश्वविद्यालय**

| सन् | अनुसन्धाता | विषय | उपाधि |
|---|---|---|---|
| १९३८ | श्री बल्देवप्रसाद मिश्र | तुलसी दर्शन | डी० लिट्० |
| १९४० | श्री रामकुमार वर्मा | हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास | पी-एच० डी० |

### पंजाब विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९३८ | श्री इन्द्रनाथ मदान | सामाजिक वातावरण के विशिष्ट संदर्भ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना | पी-एच० डी० |

### कलकत्ता विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९४३ | श्री नलिनी मोहन सान्याल | बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास | डी० फिल्० |

### पटना विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९४४ | श्री सुभद्र झा | मैथिली भाषा का विकास | डी० लिट्० |
| १९४४ | श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी | बिहार के सन्त कवि दरिया साहब | पी-एच० डी० |

### लखनऊ विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९४६ | श्री उदयभानुसिंह | महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग | पी-एच० डी० |
| १९५६ | श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित | चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार | डी० लिट्० |

### राजस्थान विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९४९ | श्री सरनामसिंह शर्मा | हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव | पी-एच० डी० |

### दिल्ली विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९५१ | श्री विमलकुमार जैन | सूफीमत और हिन्दी साहित्य | पी-एच० डी० |

### सागर विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९५१ | श्री वीरेन्द्र कुमार शुक्ल | भारतेन्दु का नाट्य साहित्य | पी-एच० डी० |

### अलीगढ़ विश्वविद्यालय

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९५६ | श्री गोवर्धन नाथ शुक्ल | कविवर परमानन्द और उनका साहित्य | पी-एच० डी० |

सन् १९१८ ई० से लेकर अब तक के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, जो हिन्दी के प्राचीन और मध्यकाल पर लिखे गये हैं, विषय की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रमुखरूपेण निम्नांकित वर्ग-विभाजन ही अधिक उचित एवं सरल माना जा सकता है—(१) दर्शन, धर्म, सम्प्रदाय, इतिहास, समाज एवं संस्कृति-सम्बन्धी वर्ग। (२) विशेष धारा या प्रवृत्ति-सम्बन्धी वर्ग (३) विशेष कवि, लेखक या ग्रन्थ-सम्बन्धी वर्ग (४) पंथ, सम्प्रदाय और युग-विशेष के साहित्यकारों का वर्ग (५) पृष्ठभूमि, विकास एवं परम्परा-प्रभाव सम्बन्धी वर्ग (६) काव्य-रूप सम्बन्धी वर्ग (७) काव्यशास्त्र-सम्बन्धी वर्ग (८) हिन्दी साहित्य के इतिहास का वर्ग (९) ग्रन्थ भाषा तथा भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी वर्ग (१०) ग्रन्थ-सम्पादन-सम्बन्धी वर्ग।

## विषयानुसार वर्गीकरण

**(१) दर्शन, धर्म, संप्रदाय, इतिहास, समाज एवं संस्कृति-सम्बन्धी वर्ग—**
(क) आदिकाल—इस काल से सम्बन्धित हिन्दी का कोई शोध-प्रबन्ध किसी विश्वविद्यालय से स्वीकृत नहीं हुआ।

(ख) मध्यकाल—पटना विश्वविद्यालय के तत्वावधान में सन् १९४४ ई० में श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'दरिया साहब' प्रबन्ध में विशेषतः दार्शनिक पक्ष का ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु भारतीय विश्वविद्यालय के हिन्दीतर विभागों ने भी दर्शन, इतिहास और संस्कृति के क्षेत्र में अध्ययन कराये हैं। डा० आनन्द प्रकाश माथुर ने प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से हिन्दी साहित्य के आधार पर १६वीं-१७वीं शताब्दियों की सामाजिक अवस्था का अध्ययन प्रस्तुत किया, जिस पर सन् १९४७ ई० में डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की गई। लखनऊ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अन्तर्गत डा० समरबहादुरसिंह ने रहीम की रचना में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की खोज करके सन् १९५२ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग से डा० शीलवती मिश्र ने सन् १९४८ ई० में डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध प्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी सन्तों—विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास पर—वेदान्त-पद्धतियों का ऋण।' सन् १९५८ ई० में डा० सोमनाथ शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९५६ ई० में डा० गणेशदत्त ने 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में चित्रित समाज' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि पाई। राजस्थान विश्वविद्यालय के अन्तर्गत डा० रामा-

नन्द तिवारी का शोध-प्रबन्ध 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। इस पर सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। इसी वर्ष श्री गिरीशचन्द्र तिवारी ने 'कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या' प्रस्तुत की और पी-एच० डी० की उपाधि पायी।

(२) **विशेष धारा या प्रवृत्ति-सम्बन्धी वर्ग**—इस वर्ग में आदि काल से सम्बन्धित दो शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं। सन् १९५३ ई० में 'सिद्ध साहित्य' पर शोध-कार्य करके श्री धर्मवीर भारती ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९५५ ई० में डा० इन्द्रपालसिंह ने लखनऊ विश्वविद्यालय से अपने शोध-कार्य पर पी-एच० डी० की उपाधि ली। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था—'आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ।'

मध्यकालीन साहित्य पर अपेक्षाकृत अधिक शोध-अध्ययन प्रस्तुत किये गये। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९३४ ई० में स्वीकृत हुआ। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र से सम्बन्धित यह सब से पहला शोध-प्रबन्ध है जो भारतीय विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३५ ई० में 'मध्यकालीन सन्त साहित्य' पर डा० रामखेलावन पाण्डेय को पटना विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। डा० ब्रजमोहन गुप्त का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ' सन् १९४६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९४७ ई० में 'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य' (जायसी का विशेष अध्ययन) शोध-प्रबन्ध पर श्री पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ को प्रयाग वि० वि० से ही उपाधि दी गई। प्रेमाख्यान काव्यधारा पर अन्य तीन शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य' नाम का शोध-प्रबन्ध डा० विमल कुमार जैन ने लिखा जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय से १९५१ ई० में पी-एच० डी० मिली। 'हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में संगीत' विषय पर उषा गुप्त को लखनऊ से पी-एच० डी० की उपाधि १९५५ में प्राप्त हुई। दूसरा शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य के हिन्दू प्रेमाख्यानकार' डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया और पी-एच० डी० के लिए सन् १९५२ ई० में स्वीकृत हुआ। तीसरा शोध-प्रबन्ध 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि' था जिस पर डा० सरला शुक्ला को लखनऊ वि० वि० से ही सन् १९५४ ई० में पी-एच० डी० प्रदान की गई। वीर काव्यधारा का अध्ययन डा० टीकमसिंह तोमर ने 'हिन्दी वीर काव्य (सन् १६०० से १८०० तक)' शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया और प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई०

में डी० फिल्० प्राप्त की। 'रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध' विषय पर दिल्ली विश्वविद्यालय से उमा मिश्रा को पी-एच० डी० १९५८ ई० में मिली। मध्यकालीन काव्य के प्रकृति चित्रण पर दो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुए—एक 'हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य' शीर्षक से प्रयाग विश्वविद्यालय में डा० रघुवंश सहाय वर्मा द्वारा और दूसरा 'हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण' शीर्षक से आगरा विश्वविद्यालय में डा० किरण कुमारी गुप्ता द्वारा। दोनों ही पर सन् १९४८ ई० में उपाधियाँ प्रदान की गईं। शोध-प्रबन्धों के इसी वर्ग में डा० शैलकुमारी का डी० फिल्० का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में नारी-भावना' भी आता है। यह सन् १९४९ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ था। सन् १९५६ ई० में 'रीति-कालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना' पर काशी विश्वविद्यालय से डा० बच्चनसिंह को पी-एच० डी० मिली और सन् १९५७ ई० में उषा पाण्डेय ने 'मध्यकालीन काव्य में नारी-भावना' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० प्राप्त की। रसों की दृष्टि से आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत दो शोध-अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं :—एक 'हिन्दी काव्य (१६००-१८५० ई०) में शृङ्गार रस' शीर्षक प्रबन्ध जिस पर डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी को पी-एच० डी० मिली और दूसरा 'हिन्दी काव्य में करुण रस (१४००-१७०० ई० तक)' शीर्षक प्रबन्ध पर डा० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव को सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० प्रदान की गई। इसी वर्ग के अन्तर्गत डा० प्रेमनारायण शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद' भी आता है, क्योंकि इसमें भी प्रवृत्तियों का ही अध्ययन है। इस पर सन् १९५२ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि दी गई थी। मध्य-कालीन मुक्तक काव्यधारा का अध्ययन स्वतंत्र रूप से हुआ है जो कवि-विशेष के अध्ययन को भी लेकर चला है।

(३) **विशेष कवि, लेखक या ग्रंथ-सम्बन्धी वर्ग**—इस वर्ग के अन्तर्गत प्रमुख रूप से वे ही शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं जिनमें अनुसंधाता का ध्यान कवि-विशेष पर ही अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रस्थ रहा है। यों तो थोड़ा-बहुत कवि का अध्ययन उन प्रबन्धों में भी प्रस्तुत किया गया है जिनका विवरण 'विशेष धारा या प्रवृत्ति-सम्बन्धी वर्ग' के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

हिन्दी के आदि काल से सम्बन्ध रखने वाले दो कवियों पर शोध-प्रबन्ध लिखे गये। डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने 'चन्दवरदायी और उनका काव्य' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९४८ में डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की और इसी वर्ष डा० रांगेय राघव ने 'गुरु गोरखनाथ और

उनका युग' प्रबन्ध प्रस्तुत करके आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० प्राप्त की। सन् १९४७ में प्रयाग से पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ को हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में जायसी का अध्ययन विषय पर डी० फिल्० की उपाधि मिली।

मध्यकाल से सम्बन्धित पहला शोध-प्रबन्ध जो इस वर्ग के अन्तर्गत माना जा सकता है, डा० एफ० ई० के का है जो लन्दन विश्वविद्यालय में लिखा गया था। इसका शीर्षक है—'कबीर तथा उनके अनुयायी'। इस पर लेखक को सन् १९३१ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि दी गई थी। सन् १९५१ में कबीर सम्बन्धी एक और शोध-प्रबन्ध 'कबीर की विचारधारा' शीर्षक डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने आगरा विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया। कबीर के अतिरिक्त सन्त कवियों की परम्परा में रैदास, मलूकदास और शिवनारायन पर शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं। यह कार्य लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हुआ। सन् १९५३ में इसी विश्वविद्यालय से डा० नारायणदास को 'आचार्य भिखारीदास' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। सन् १९५६ में महेशचन्द सिंहल को 'सन्त सुन्दरदास' पर आगरा से पी-एच० डी० मिली। राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई० में फैयाजअली ख़ाँ को नागरीदास के अध्ययन पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इसी विश्वविद्यालय ने डा० श्यामशंकर दीक्षित को 'परमानन्द दास : जीवनी और कृतियां' शीर्षक प्रबन्ध पर सन् १९५८ ई० में शोध-उपाधि प्रदान की। इससे पहले सन् १९५६ ई० में डा० गोवर्धननाथ शुक्ल अलीगढ़ विश्वविद्यालय में 'परमानंद दास' पर कार्य करके पी-एच० डी० प्राप्त कर चुके थे। उनके शोध-प्रबन्ध का शीर्षक है—'कविवर परमानन्द और उनका साहित्य'। इसी विश्वविद्यालय से डा० विजयपाल सिंह ने सन् १९५८ ई० में 'केशव और उनका साहित्य' प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। सन् १९५० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से और सन् १९५७ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से भी डा० किरणचन्द्र शर्मा का केशव के अध्ययन पर शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुए थे। पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९४५ ई० में डा० लक्ष्मीधर शास्त्री को 'बरकत-उल्ला पेमी कृत प्रेमप्रकाश' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। धारापरक अध्ययन के अतिरिक्त जायसी, तुलसी, सूर आदि का एकात्मक अध्ययन भी हुआ है। आगरा विश्वविद्यालय से डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ को 'जायसी—उनकी कला और दर्शन' पर सन् १९४९ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली। एकात्मक विशेष अध्ययन की दृष्टि से तुलसीदास और सूरदास पर शोध-प्रबन्ध अधिक संख्या में लिखे गये हैं। तुलसीदास पर पहला शोध-प्रबन्ध नागपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत डा० बल्देव

प्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन' के नाम से प्रस्तुत हुआ था और इस पर अनुसंधाता को सन् १९३८ ई० में डी० लिट्० की उपाधि दी गई थी। 'तुलसी : एक अध्ययन ( विशेषतः मानस के आधार पर )' शोध-प्रबन्ध डी० लिट्० के लिए आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९३९ ई० में स्वीकृत हुआ। इसके लेखक डा० हरिहरनाथ हुक्कू हैं। तुलसीदास के जीवन और कृतियों का गवेषणात्मक अध्ययन डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा हुआ है। सन् १९४० ई० में गुप्त जी को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि दी गई थी। १९४९ ई० में डा० राजपति दीक्षित को 'तुलसीदास और उनका युग' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गई है। सन् १९५७ ई० में श्री राजाराम रस्तौगी का 'तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा' शोध-प्रबन्ध पटना वि० वि० में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। कृष्ण-काव्य पर कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये। 'कृष्ण-काव्य में भ्रमर गीत' विषय पर श्यामसुन्दर दीक्षित को १९५४ में आगरा से तथा 'हिन्दी में भ्रमर-गीत-काव्य और उसकी परम्परा' विषय पर दिल्ली से श्रीमती स्नेहलता श्रीवास्तव को सन् १९५५ में पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

सूरदास पर पहला शोध-प्रबन्ध डा० जनार्दन मिश्र का 'सूरदास का धार्मिक काव्य' है जिस पर सन् १९३४ ई० में कौनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। दूसरा उपाधि-प्राप्त शोध-प्रबन्ध 'सूरदास, जीवनी और कृतियों का अध्ययन' डा० ब्रजेश्वर वर्मा का है जो प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्तर्गत लिखा गया और सन् १९४५ ई० में डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५१ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से 'भारतीय साधना और सूरदास' पर डा० मुंशीराम शर्मा को पी-एच० डी० की उपाधि मिली और सन् १९५३ ई० में 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' शीर्षक मेरा शोध-प्रबन्ध आगरा से ही पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५४ ई० में डा० रामधन शर्मा का 'सूर के दृष्टकूट पद' पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५६ में श्री मनमोहन गौतम को 'सूर की काव्य-कला' पर दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि दी गई है। सन् १९५५ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय से 'सूरदास और उनका साहित्य' प्रबन्ध पर डाक्टर हरकैलाश शर्मा को डी० लिट्० की उपाधि दी गई। सन् १९५८ ई० में श्री छोटेलाल को 'मीरा बाई' प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। दिल्ली विश्वविद्यालय से श्री महेन्द्रकुमार

को 'मतिराम : कवि और आचार्य के रूप में' अध्ययन पर पी-एच० डी० की उपाधि सन् १९५८ में मिली।

रीति-परम्परा के कवियों में पहला अध्ययन डा० नगेन्द्र का है। सन् १९४६ में उनका शोध-प्रबन्ध 'रीति-काव्य की भूमिका में देव का अध्ययन' आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। इसके उपरान्त आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ही घनानन्द और द्विजदेव पर भी शोध-प्रबन्ध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए। सन् १९५८ ई० में श्री रामसागर त्रिपाठी ने 'मुक्तक काव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन' प्रस्तुत किया और आगरा विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सन् १९५८ में श्री धर्मपाल अष्ट ने 'दशम ग्रंथ का कवित्व' शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है तथा 'हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी' पर श्री गणपति गुप्त को पी-एच० डी० की उपाधि मिली। सन् १९५६ में श्री जयराम मिश्र ने ग्रन्थ साहब पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच० डी० प्राप्त की। उनके विषय का शीर्षक था—'आदि गुरुग्रन्थ साहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त।'

**पंथ, संप्रदाय, और युग विशेष के साहित्यकारों का वर्ग**—विशेष पन्थ या संप्रदाय के अन्तर्गत जिन कवियों ने अपनी काव्य-सर्जना की, उनका शोध-कार्य इसी वर्ग में समाविष्ट होगा। डा० दीनदयालु गुप्त का 'अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय' प्रबन्ध जिस पर सन् १९४४ ई० में प्रयाग से डी० लिट्० प्रदान की गई थी, इस वर्ग में प्रथम शोध-अध्ययन माना जा सकता है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल को सन् १९४८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से 'अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि' पर और डा० सावित्री सिन्हा को सन् १९५१ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय से 'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियों' प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधियाँ मिलीं। सन् १९५६ में 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त' विषय पर डा० विजयेन्द्र स्नातक को डाक्टर की उपाधि दिल्ली से प्राप्त हुई। सन् १९५८ में डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ श्री भगवती प्रसाद सिंह का 'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय' प्रबन्ध इसी वर्ग में ही जाता है। सन् १९५६ ई० में डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध 'रीवाँ दरबार के हिन्दी-कवि' भी इसी वर्ग में आता है, जिसे विमला पाठक ने प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया था।

(५) **पृष्ठभूमि, विकास एवं परम्परा-प्रभाव-सम्बन्धी वर्ग**—इस वर्ग के

प्रथम अनुसन्धाता डा० कामिल बुल्के हैं। 'रामकथा का उद्भव और विकास' पर आपको सन् १९४९ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली थी। इसमें लेखक ने राम-विषयक अनेक कथाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके साहित्य के पाठकों के लिये पृष्ठभूमि का स्वरूप स्पष्ट किया है। डा० धर्मवीर भारती ने अपने प्रबन्ध 'सिद्ध साहित्य में सन्त काव्यों की पृष्ठभूमि' प्रस्तुत की है। सन् १९५३ में यह प्रबन्ध प्रयाग से डी० फिल्० के लिए स्वीकृत हुआ था। दिल्ली विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत डा० हरिवंश कोछड़ का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध पृष्ठभूमि और परम्परा-प्रभाव को ही उपस्थित करता है। इसी वर्ग में डा० रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' नामक प्रबन्ध आता है। कुछ ऐसे शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये जिनमें परम्परा का प्रभाव दिखाया तो गया है, किन्तु वह दो भाषाओं के अध्ययन के रूप में है। मध्यकाल से सम्बन्धित ऐसे दो शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं—एक तो डा० जगदीश गुप्त का 'हिन्दी और गुजराती काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' और दूसरा डा० रतनकुमारी का 'हिन्दी और बँगला के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन'। इन दोनों प्रबन्धों पर क्रमशः १९५३ और १९५५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि घोषित हुई थी। सन् १९५७ और ५८ ई० में क्रमशः दो प्रबन्ध आगरा विश्व-विद्यालय में प्रस्तुत किये गये जिन पर पी-एच० डी० की उपाधियाँ दी गईं। एक का शीर्षक है—'कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' और दूसरा है—'हिन्दी और मराठी निर्गुण काव्य।' डा० विनयमोहन शर्मा को 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' विषय पर सन् १९५६ में नागपुर से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

(६) **काव्य-रूप सम्बन्धी वर्ग**—महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य आदि काव्य-रूपों का अध्ययन इस वर्ग के अन्तर्गत आता है। सन् १९४९ ई० में लंदन विश्वविद्यालय से डा० हरिश्चन्द्र राय को पी-एच० डी० दी गई थी। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी-साहित्य में महाकाव्य।' डा० शिव-मंगलसिंह 'सुमन' ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से गीतकाव्य के अध्ययन पर ही डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। इसी विश्वविद्यालय से फिर सन् १९५२ ई० में डा० शकुन्तला दुबे का प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य-रूपों का उद्भव और विकास' स्वीकृत हुआ। 'मध्यकालीन छन्द का ऐतिहासिक विधान' पर लन्दन से माहेश्वरीसिंह को तथा हिन्दी छन्द-शास्त्र पर जानकीसिंह मनोज को प्रयाग से डी० फिल्० की उपाधि मिली।

(७) **काव्यशास्त्र-सम्बन्धी वर्ग**—इस वर्ग का प्रथम शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' प्रयाग विश्वविद्यालय में डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा था जो सन् १९३७ में डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ था। डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' सन् १९४७ में लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत हुआ। काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर भी कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये। 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रसशास्त्र' का अध्ययन डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ने प्रस्तुत किया। डा० भोलाशंकर व्यास ने' 'ध्वनि-सिद्धान्त के विकास' पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। 'भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद' का अध्ययन डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ने प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया और उस पर १९५२ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। डा० ओम्प्रकाश ने हिन्दी-साहित्य में अलंकार विषय पर १९५१ में आगरा से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

(८) **हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित वर्ग**—इस वर्ग में हम उन्हीं शोध-प्रबन्धों को लेंगे जिनमें आदिकाल और मध्यकाल का ही विशेषतः विवेचन किया गया है। इसमें प्रथम शोध-प्रबन्ध डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' है जिसमें सं० ७०० वि० से १७०० तक के साहित्यकारों और प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक विवरण और विवेचन है। इस पर सन् १९४० ई० में नागपुर वि० वि० से पी-एच० डी० प्राप्त हुई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का प्राचीन पिंगल साहित्य' पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। डा० भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी नीति-काव्य' बहुत कुछ अंशों में इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है।

(९) **ग्रन्थ-भाषा तथा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी वर्ग**—मध्यकालीन ब्रज और अवधी भाषाओं पर कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। आदिकालीन भाषा पर भी खोज-कार्य हुआ है। सन् १९५६ ई० में नामवरसिंह ने 'रासो की भाषा' शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखकर काशी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। मध्यकालीन काव्यों की ब्रजभाषा तथा लोकजन्य ब्रजभाषा पर सर्वप्रथम लिखा हुआ शोध-प्रबन्ध डा० धीरेन्द्र वर्मा का है, जिस पर सन् १९३५ में पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। इधर लखनऊ विश्वविद्यालय से भी तुलसी और सूर की भाषाओं पर दो शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं जो पी-एच० डी० के

लिए स्वीकृत होने के उपरान्त प्रकाशित भी हो चुके हैं। 'तुलसीदास की भाषा' के लेखक डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव हैं और 'सूर की भाषा' डा० प्रेमनारायण टंडन के द्वारा लिखी गई है।

(१०) **ग्रन्थ-संपादन सम्बन्धी ग्रन्थ**—आदिकालीन ग्रन्थों के संपादन का कार्य पंजाब और कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुआ है। सन् १९५८ ई० में वेणीप्रसाद शर्मा को पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० प्राप्त हुई। उनका शोध-विषय था—'पृथ्वीराज रासो का अध्ययन और लघुतम संस्करण का आलोचनात्मक संपादन'। इसी वर्ष श्री तारकनाथ अग्रवाल को बीसलदेवरासो के संपादन पर कलकत्ता वि० वि० से डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई। संपादन के क्षेत्र में सबसे पहला कार्य डा० लक्ष्मीधर का है। आपने सन् १९४१ में लन्दन से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। आपका शोध-विषय था—"मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का सटिप्पण संपादन और अनुवाद (१६ वीं शताब्दी की अवधी का अध्ययन)।" सन् १९५० में कु० वोदवाल का 'रामचरितमानस का पाठ-क्रम' शोध-प्रबन्ध पेरिस से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। ग्रन्थ-संपादन के कार्य पर अपेक्षाकृत कम अध्ययन हुआ है। इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

## अनुसंधान-विषयक परामर्श

सन् १९१८ से आज तक जो अनुसंधान कार्य हुआ है उसका आदर्श पाश्चात्य ही रहा है। यद्यपि भारतीय साहित्य में शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त आदि के कुछ प्राचीन ग्रन्थों में अनुसंधान की अपनी शिल्प-विधि मिलती है, किन्तु वर्तमान काल के अनुसंधित्सु उसकी ओर श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देख रहे हैं। यास्क, पाणिनि और पातंजलि ने हमारे समक्ष जो मार्ग प्रस्तुत किया है उससे भी आज के अनुसंधित्सुओं को लाभ उठाना चाहिए।

अब तक हिन्दी में प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर जितना शोध-कार्य हुआ है उस पर पहले ही इतिहास के रूप में एक विहंगम दृष्टि डाली जा चुकी है। उन विषयों पर विचार करने पर विदित होता है कि बहुत से विषयों का पिष्टपेषण भी हुआ है। अपभ्रंश साहित्य और प्राचीन हिन्दी साहित्य पर शोध-कार्य वांछनीय है। हिन्दी का भाषा-तत्व-क्षेत्र सैकड़ों शोध-पंडितों की ओर प्यासी आँखों से देख रहा है। आज प्राचीन हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों का प्रामाणिक सम्पादन अवश्य होना चाहिए। ग्रन्थ का प्रामाणिक संस्करण ही साहित्यिक विवेचन एवं सांस्कृतिक विश्लेषण की सच्ची आधार-शिला है। जब नींव ही टेढ़ी-सीधी होगी तो उस पर भवन किस प्रकार सीधा बन

सकता है। जनपदीय भाषाओं की शब्दावली का अक्षय कोश हिन्दी के शब्द-भंडार को सच्चे अर्थों में सम्पन्न बना सकता है। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी इससे बहुत कुछ अंशों में हल हो सकती है। भावव्यंजकता के लिए हिन्दी की जनपदीय उपभाषाओं के शब्दों में जितनी क्षमता और बल है, उतना गढ़े हुए शब्दों में कभी आ नहीं सकता। हमारे शब्द-दारिद्रय को दूर करने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियाँ रत्नों की खान हैं। हिन्दी भाषा और बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत है कि भारतवर्ष के कई विश्वविद्यालय अनेक वर्षों तक अनुसंधान-कार्य करा सकते हैं। भाषा और साहित्य के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन बहुत कम हुआ है। हिन्दी-काव्यशास्त्र संस्कृत-काव्यशास्त्र का पल्ला पकड़ करके ही चल रहा है। आज यह महती आवश्यकता है कि हिन्दी साहित्य के स्वतंत्र अनुशीलनोपरान्त हमें हिन्दी काव्यशास्त्र पर मौलिक चिन्तन और विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए। हमें सीमित क्षेत्र में सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन की ओर बढ़ने की आवश्यकता है—विषय चाहे साहित्यिक हो अथवा भाषा-वैज्ञानिक।

शोध-प्रबन्धों में अधिकांश ऐसे मिलते हैं जिनमें विषय को व्यर्थ में ही द्रौपदी के चीर का रूप दिया जाता है। यहाँ तक कि कुछ में तो विषय-प्रतिपादन 'शीर्षक' से भिन्न ही मिला है। मूल विषय पर ठोस रूप में लिखे हुए शोध-प्रबन्ध बहुत कम हैं। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सहारा लेकर थीसिस को भारी-भरकम बनाने की प्रवृत्ति आज के अनुसंधित्सु में दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी-साहित्य के मूल अंश पर शोधपरक दृष्टि से तो कम लिखा जाता है। हाँ, जदुनाथ सरकार, स्मिथ, ईश्वरीप्रसाद आदि इतिहासकारों की शब्दावली का सहारा लेकर ग्रन्थ के पन्ने पर पन्ने भरे जाते हैं। आज का अनु-संधित्सु शोध और आलोचना में अन्तर ही नहीं समझता। अधिकतर शोध-प्रबन्ध आलोचनात्मक पुस्तकों के रूप में लिखे हुए मालूम पड़ते हैं। यदि सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध पढ़ने के उपरान्त यह देखा जाय कि शोधार्थी ने विषय-सम्बद्ध कितना लिखा है, तो पूरे ग्रन्थ का चतुर्थांश ही ठिकाने का मिलेगा। शोध-प्रबन्धों में शोध की वैज्ञानिक पद्धति तथा शैली के प्रतिपादन का अभाव खटकता है। अनुसंधित्सु की ईमानदारी और परिश्रम ही अनुसन्धान का प्राण है। इस प्राण का अभाव कुछ प्रबन्धों में हमें मिला है।

अनुसंधित्सु के लिए जिन प्रमुख बातों की आवश्यकता है, उनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—(१) विषय-निर्वाचन (२) विषय-विश्लेषण (३) शिल्पविधि (४) पुस्तकालय (५) निर्देशन-व्यवस्था और निर्देशक (६) प्रशिक्षण-केन्द्र।

इन सभी विषयों पर इस अनुसन्धान-गोष्ठी में विचार होगा। इसलिए यहाँ इन पर विशेष प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य में असंख्य विषय अछूते पड़े हैं। न जाने कितने हस्तलिखित ग्रन्थ कीट-नारायण का प्रसाद बन रहे हैं। नवीन तथ्यों के प्रकाश में आ जाने से हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा ही बदल रही है। विषय-निर्वाचन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अनुसन्धित्सु की रुचि का ही विषय-निर्वाचन में प्राधान्य होना चाहिए। ऊपर जितने वर्ग गिनाये गये हैं वे वास्तव में अब तक के अनुसन्धान-कार्य को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। विषयों का वैसा वर्गीकरण न तो आवश्यक ही है और न उचित ही। मुख्य वर्ग तो तीन ही पर्याप्त हैं: १—भाषा, २—साहित्य, ३—धर्म और संस्कृति।

इन तीनों में से प्रत्येक के अनेक उपवर्ग हो सकते हैं। आश्चर्य है अभी तक खड़ी बोली के उद्गम और विकास पर भी व्यवस्थित रूप से अनुसन्धान-कार्य नहीं हुआ है। भाषा के अन्तर्गत केवल ध्वनि-पक्ष पर ही अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। केवल पचास शब्दों के अर्थ विकास पर ही एक शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत हो सकता है। आधुनिक आर्य-भाषाओं की ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन पर कई छात्र अनुसन्धान कर सकते हैं। इसी प्रकार साहित्य के भी कई उपवर्ग हो सकते हैं—ग्रन्थ-सम्पादन से लेकर आलोचना तक कितने ही वर्ग हैं। अनुसन्धान और आलोचना का विषय गोष्ठी में अलग से रखा गया है। धर्म और संस्कृति का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के सन्दर्भ में यह वर्ग भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। धर्म और संस्कृति पर प्रभाव डालने वाली सभी प्रवृत्तियाँ इस वर्ग के अन्तर्गत आ जाती हैं। विभिन्न सम्प्रदायों, धार्मिक आन्दोलनों, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन इसी वर्ग में आ जाता है। विषयों का उचित और वैज्ञानिक वर्गीकरण न होने से विषय-निर्वाचन में ही कठिनाई का अनुभव नहीं होता, विषय-प्रतिपादन भी सम्भव नहीं है। आजकल के शोध-प्रबन्धों में जो आधे से अधिक भाग पृष्ठभूमियों से भरा रहता है—वह दोष भी इस व्यवस्था से दूर हो सकता है।

विषय-विश्लेषण भी शोध का महत्त्वपूर्ण अंग है। सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध लिखे जाने पर भी विषय का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। कभी-कभी ग्रन्थ में विषय शीर्षक के सोलह आने प्रतिकूल मिलता है। शोधार्थी विषयान्तर होकर ही छलाँगें मारता रहता है। विषय से तनिक भी भटकना शोध के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। एक ही तथ्य का विस्तार से पुनः पुनः प्रतिपादन, पृष्ठभूमि के कान्तार

में तथ्य-निगूढ़न तथा अनेक असम्बद्ध समस्याओं को उठाकर विषय का गुम्फन आदि विषय-विश्लेषण की सीमाओं से परे हैं।

अनुसंधान की प्रविधि या शिल्पविधि के सम्बन्ध में इस गोष्ठी में विस्तार से विचार होगा। अनुसन्धान-कार्य का यह अंग उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि विषय-प्रतिपादन। इसे हम स्थूल रूप से शोध की शैली कह सकते हैं पर निबन्ध अथवा काव्य-शैली से यह सर्वथा भिन्न है। निबन्ध अथवा काव्य की शैली व्यक्ति की अन्तःप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है जबकि शोध-शैली कुछ निश्चित नियमों पर आधृत है। इसमें उच्च कोटि की वैज्ञानिकता, लाघव और पूर्णता होती है। खेद से कहना पड़ता है कि हमारे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर लिखे गये अनेक शोध-प्रबन्धों में इस प्रविधि की अपूर्णता खटकती है। साहित्य के विद्यार्थियों की उर्वरा कल्पना सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर उन्मुक्त क्षेत्र में विचरण करती है और वैज्ञानिकता का ठीक प्रतिरूप उनकी कृतियों में अभिव्यक्त होता है। वास्तव में अनुसन्धान में कला और विज्ञान का जैसा सुन्दर, उपयोगी और सुखद मणि-कांचन संयोग सम्भव है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। विषय-प्रस्तावना, विषय-प्रतिपादन, संदर्भ-आकलन, निष्कर्ष-निष्कासन तथा ग्रन्थ-सूची-निर्माण सभी का तो शिल्पविधि से सम्बन्ध है। पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस विषय को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख डाले हैं पर हिन्दी में इस प्रकार का कोई ठिकाने का ग्रन्थ देखने को नहीं मिला।

अनुसंधान-कार्य के लिए अच्छे पुस्तकालयों की घोर आवश्यकता है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के विषय में तो अनुसन्धाताओं को महती कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े परिश्रम से स्थान-स्थान पर भ्रमण कर प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के कुछ ग्रन्थों के सदर्भ प्रस्तुत किये थे। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ब्रज साहित्य मण्डल आदि संस्थाओं ने इस ओर स्तुत्य प्रयास किये हैं परन्तु अभी भी कितनी असीम निधि अन्धकार के गर्त में है, नहीं कहा जा सकता। प्रकाश में आए हुए साहित्य का भी अभी तक हमारे शोधार्थी ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाते। परम्परा से प्राप्त पर्युषित ज्ञान पर ही अपनी मौलिकता का मुलम्मा चढ़ाकर वे ज्ञानलवदुर्विदग्ध हैं। यह प्रवृत्ति अनुसन्धान के मूल को ही चरने वाली है। विश्वविद्यालयों के अधिकारियों, विभिन्न संस्थाओं तथा सरकार को पुस्तकालयों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। अनुसन्धित्सुओं के लिए विशेष सुविधाएँ हों और पुस्तकालयों के उपयोग की उनमें तमीज़ हो।

हमारे अनुसन्धित्सु को एक बड़ी कठिनाई निर्देशन-व्यवस्था और निर्देशक

की है। यह समस्या बड़ी जटिल है और इसका हल ढूंढ़ निकालना भी साधारण बात नहीं है। इस सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति हर विषय का विशेषज्ञ नहीं है। नैयायिक अवश्य ही वैयाकरण हो या मीमांसक योग-दर्शन का भी पंडित हो—यह आवश्यक नहीं है। भाषा और साहित्य की अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ हैं। किसी एक पल्लवित और पुष्पित शाखा पर यदि कुछ स्थिति भी हो जाय, अधिकार न सही, तो निःश्रेय-साधिगम अवश्यम्भावी है। विद्यार्थी के प्रति उदारता प्रकट करने के और भी अवसर हैं, कम से कम अनुसन्धान-क्षेत्र में तो बौद्धिक ईमानदारी को बरतना ही चाहिए। अपने विषय में अनुसन्धान कराने का भार स्वीकार करने पर निर्देशक को अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण रूप से निर्वाह करना चाहिए। मैं समझता हूँ दो या तीन विद्यार्थियों से अधिक का पथ-प्रदर्शन किसी भी प्राध्यापक के लिए कठिन है। विषय के ज्ञान की अपेक्षा निर्देशक के लिए प्रविधि का ज्ञान अधिक आवश्यक है।

इन सभी बातों के लिए प्रशिक्षण-केन्द्रों की व्यवस्था अनिवार्य है। देश में कई स्थानों पर इस प्रकार के प्रशिक्षण-केन्द्रों की व्यवस्था हो जहाँ वर्ष में दो बार कम से कम एक-एक मास के लिए अनुसन्धान की विभिन्न शाखाओं पर सैमीनार हों। तभी अनुसन्धान के उपयुक्त वातावरण बन सकता है और उपयोगी अनुसन्धान-कार्य हो सकता है।

मैंने आपकी सेवा में संक्षेप से प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के विषय में अनुसन्धान की प्रगति प्रस्तुत की तथा अनुसन्धान के कुछ सामान्य गुण-दोषों का विवेचन किया। अब मैं इस सम्बन्ध में दो-एक सुझाव देकर अपना भाषण समाप्त करता हूँ। उच्चकोटि के अनुसन्धान के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि जिस स्थान पर विद्यार्थी अनुसन्धान-कार्य करे वहाँ उसके लिए उचित निर्देशन की व्यवस्था हो, अनुकूल वातावरण हो तथा आवश्यक सामग्री की सुविधा हो। विशेष जानकारी के लिए यदि उसे अन्यत्र यात्रा करनी भी पड़े तो कोई आपत्ति नहीं है। इसके लिए हमें अनुसन्धान के केन्द्र बनाने होंगे जिनमें प्रधान रूप से कुछ विषयों के लिए व्यवस्था करनी होगी। प्राचीन साहित्य में अभी बहुत कुछ करणीय है—भाषा की दृष्टि से, ग्रन्थ-सम्पादन की दृष्टि से तथा साहित्य-विवेचन एवं आलोचना की दृष्टि से। प्राकृत और अपभ्रंश के विभिन्न भाषा-रूपों का अभी तक अध्ययन नहीं हुआ है। कितने ही जैन, नाथ और बौद्ध ग्रन्थ जिनका सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से है अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। हिन्दी-भाषा के ही प्रारम्भिक रूप का अभी तक निर्णय नहीं हो सका

है । साहित्य की विभिन्न शैलियाँ, जो हिन्दी में रीतिकाल तक पल्लवित होती रही हैं, अभी तक अनुसन्धान का विषय बनी हुई हैं । इसी प्रकार लोक-प्रचलित अनेक शैलियों के भी अध्ययन की आवश्यकता है । १४वीं शताब्दी से पहले के हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में अभी बहुत कम जानकारी प्राप्त है । अपभ्रंश साहित्य, रासो साहित्य, देशी भाषा के साहित्य के अतिरिक्त इस युग में बहुत से मुसलमान सन्त और कवि हुए हैं । उनके कलामों, आख्यान-काव्यों और प्रवचनों का भी यदि संग्रह हो सके तो वह बड़ा उपयोगी होगा । साथ ही साथ, काश्मीर, कन्नौज, उज्जैन, काशी आदि केन्द्रों में जो उस समय संस्कृत में कार्य हुआ है उसका संकलन और मूल्यांकन भी आवश्यक है । हिन्दीतर भाषाओं में जो उस युग में कार्य हुआ है उसकी जानकारी भी हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है । इस प्रकार प्राचीन साहित्य की सामग्री पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए और किसी सुनिश्चित योजना के आधार पर कार्य होना चाहिए ।

मध्यकालीन साहित्य की समस्या और भी टेढ़ी है । मध्य युग बहुत बड़ा है और इसमें कई शताब्दियाँ आ जाती हैं । अभी तक भक्तिकालीन साहित्य पर जो कार्य हुआ है वह नगण्य है । पुष्टि-सम्प्रदाय के कवियों को लेकर अथवा राम-भक्ति शाखा को आधार बनाकर ही हमारे यहाँ अनुसन्धान-कार्य हुआ है । उस युग में भक्ति के कितने सम्प्रदाय थे—सन्तों के कितने वर्ग थे, सूफ़ियों ने न जाने कितने आख्यान-काव्य लिखे यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है । हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का भी यह युग बड़ा समृद्ध रहा है । प्रवृत्तियाँ भी लगभग समानान्तर रही हैं । इस प्रकार—साहित्य का अपार पारावार अभी तक दृष्टि से ओझल है । यत्र-तत्र सरोवर में चंचु-प्रवेश मात्र ही विद्वानों का हो पाया है । प्रकाश में आए हुए ग्रन्थों का ठीक-ठीक सम्पादन भी नहीं हो सका है । भारतीय वाङ्मय की अविच्छिन्न सरस धारा में अवगाहन करने का अभी हिन्दी के विद्वान् को अवसर ही नहीं मिल पाया है । दृष्टिकोण के भेद ने सारे साहित्य के कलेवर को किस प्रकार बदल दिया—यह एक चमत्कार था । लौकिक रस की धारा में उफान आने पर फिर वही साहित्य का रूप शृंगार-कर्दम से पंकिल प्रतीत होने लगा, यह भी एक आश्चर्य ही था । उत्तर मध्यकाल में कितने विशाल साहित्य की सर्जना हुई—इसकी कल्पना भी सम्भव नहीं है । गिने-चुने राजदरबारी कवियों की कविता-मंजरियाँ ही इस उपवन का सर्वस्व नहीं हैं । शुद्ध साहित्य की दृष्टि से अभी इस युग की कला-कृतियों की खोज की आवश्यकता है । मूल्यांकन तो अभी नगण्य ही है । संस्कृत काव्य-शास्त्रों,

रसग्रन्थों तथा नायक-नायिका भेदों के आधार पर ही हमने इस युग की कृतियों को जाँचा है अथवा कहीं संस्कृत ग्रन्थों का ज्ञान न होने से मौलिकता का आरोप किया है तो कहीं उचित मूल्यांकन के अभाव में उस युग के कवियों को नक्कालची का फतवा दिया है। उच्च कोटि के भक्तों को उनकी दरबारी कविता के आधार पर व्यभिचारी सिद्ध करने का प्रयास किया है या राधाकृष्ण का नाम लेकर अपनी प्रेम-पीर को अभिव्यक्त करने वाले कवियों को उच्चकोटि का कवि ठहराया है। विकृत और कृत्रिम भाषा को स्वाभाविक भाषा समझ बैठे हैं तो प्रकृत और प्रचलित भाषा के प्रयोगों को गँवारू बतला दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का विवेचन कर किसी रीतिकालीन कवि के गुण-दोषों का उचित-अनुचित निरूपण ही हमारे अनुसन्धाता का लक्ष्य रहा है। वास्तव में सम्पूर्ण प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य का इतिहास फिर से लिखा जाना चाहिए। उपलब्ध प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य-ग्रंथों की सूचियाँ बननी चाहिए। भाषा, साहित्य और धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र निर्धारित हो जाने चाहिए। विषयवार ग्रन्थ-सूचियाँ अलग से बननी चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो अन्तर्-विश्वविद्यालयीय स्तर पर अनुसन्धान-केन्द्रों की व्यवस्था होनी चाहिए। यह गोष्ठी इस प्रकार के पुनीत कार्य का प्रथम सोपान है। मुझे आशा है कि इससे हिन्दी जगत् में जागृति होगी, प्रेरणा मिलेगी और स्फूर्ति का संचार होगा।

डॉ० सत्येन्द्र

# हिन्दी अनुसंधान की प्रगति (२)

## [आधुनिक हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध]

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि अनुसंधान या गवेषणा आधुनिक-पूर्व के युग से सम्बन्धित विषयों पर ही हो सकती है। किन्तु आज इस विश्वास के भ्रान्त होने में किसी को संदेह नहीं होगा। ज्ञान-विज्ञान में आधुनिक युग के विषयों पर ही अन्वेषण-अनुसंधान होता है। जिन विषयों का अपनी निजी प्रकृति के कारण विगत युगों से ही सम्बन्ध होता है, वे भी अब आधुनिक युग को महत्व देने लगे हैं। उदाहरणार्थ 'इतिहास' मूलतः 'विगत' का ही होता है, पर अब तो वर्तमान काल में निर्माण-संलग्न ऐतिहासिक शक्तियों का अनुसंधान करना भी महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। साहित्य में भी पहले ज्यादा आकर्षण प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य की ओर रहा। विद्वान् और अनुसंधाता इन्हीं युगों के अँधेरे गह्वरों में प्रकाश लेकर पहुँचे और उनको प्रोद्भासित करने का यशस्वी प्रयत्न किया।

किन्तु शीघ्र ही आधुनिक युग पर भी दृष्टि गयी। इस दृष्टि ने भी परम्परा-नुसार, आधुनिक युग के ऐतिहासिक विषयों को अनुसंधान के लिए चुना। आधुनिक युग हिन्दी में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' से माना जाता है। इसके अनुसार संवत् १९०० के लगभग से आधुनिक युग चला। तब से आज तक एक शताब्दी से कुछ अधिक का युग बीत चुका है। अतः बिल्कुल आज से पूर्व के समय से सम्बन्धित विषय आधुनिक युग में ही ऐतिहासिक माने जायेंगे। इसी धारणा ने एक-डेढ़ शताब्दी पूर्व तक किसी भी जीवित कवि या लेखक को अनुसंधान का विषय नहीं बनने दिया था। विश्वविद्यालयों के तत्कालीन अध्यक्ष तथा अनु-संधान-समिति के सदस्य ऐसे विषयों को बड़ी रुखाई से रद्दी की टोकरी में डाल देते थे। द्विवेदी जी से पूर्व के आधुनिक युग के अंश में किसी विषय पर अनु-संधान करने की आज्ञा देने में तो इन्हें अब कुछ काल से ही प्रसन्नता होने लगी थी।

यह हिन्दी अनुसंधान-क्षेत्र की द्वितीय स्थिति थी। यह स्थिति भी बदली। विश्वविद्यालय के क्षेत्र में अब यह कहा जाने लगा कि यदि किसी वर्तमान कवि या लेखक का व्यक्तित्व इतना प्रौढ़ हो गया है कि वह ऐतिहासिक महत्व पा सकता है तो उस पर अनुसंधान क्यों न करने दिया जाय? इस प्रकार आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को भी अनुसंधान-योग्य माना जाने लगा। इस प्रकार हिन्दी-अनु-संधान के तृतीय विकास में जीवित कवियों और अधुनातन प्रवृत्तियों को भी अनुसंधान-योग्य माना जाने लगा है। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ हिचक विद्यमान अवश्य है, और एक सीमा तक ऐसी हिचक रहना समीचीन भी है।

इन तीनों स्थितियों में होने वाले अनुसंधान-कार्य का परिणाम भी कम नहीं है। मैंने आधुनिक साहित्य-विषयक १५९ अनुसंधानों की सूची बनायी, उसमें से मैंने देखा कि ८७ पर उपाधियाँ मिल चुकी हैं, और ७२ विषय अनु-संधानाधीन हैं। इन अनुसंधानाधीन विषयों में से कुछ पर प्रबन्ध तैयार हो चुके होंगे और वे विश्वविद्यालयों में निर्णयार्थ पहुँचे हुए होंगे।

**जिन ८७ विषयों पर उपाधियाँ मिल चुकी हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :**

## आधुनिक साहित्य पर प्राप्त उपाधियों का विषय-विभाजन

सं० १९०० से····

| साहित्य, सामान्य | व्यक्ति | काव्य | गद्य, सामान्य | उप-न्यास | नाटक | कहानी | कथा-साहित्य | निबंध | जीवनी | गद्य-काव्य | आलो-चना |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १६ +४ —१ | ११ +५ —२ | २७ +१ -४+ | १ | +२ | १२ —१ | २ | १ | १ | १ | २ | ४ —१ |

| समाचार-पत्र | शास्त्र, पिंगल आदि | कुल योग |
|---|---|---|
| १ | २ —२ | ८१+(६)=८७ |

## अनुसंधानाधीन आधुनिक साहित्य

| | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ९ +१ | ६ +२ —२ | २६ +२ —२ | २ | १४ | ६ +१ | | | | | | ५ —२ |
| | १ —१ | | | | | | | | कुल योग<br>संपूर्ण योग | | ६९ +(३)<br>१५० |

संकेत—चिह्न + वाले अंक यह बताते हैं कि उस संख्या विषयानुसंधान में इस वर्ग से भी सम्बन्धित चर्चा है, अर्थात् वह इस वर्ग में भी रखा जा सकता है, पर प्रमुखता न होने से इसमें नहीं रखा गया। चिह्न — वाले अंक यह बताते हैं कि इस संख्या के अनुसंधान इस वर्ग में सम्मिलित हैं, यद्यपि उनमें अन्य वर्ग में सम्मिलित होने योग्य सामग्री भी है। योग में जो संख्या कोष्ठक में घेर दी गयी है, उस संख्या के अनुसंधान इस वर्गीकरण में नहीं सम्मिलित किये गये, भले ही वे सूची में दे दिये गये हैं।

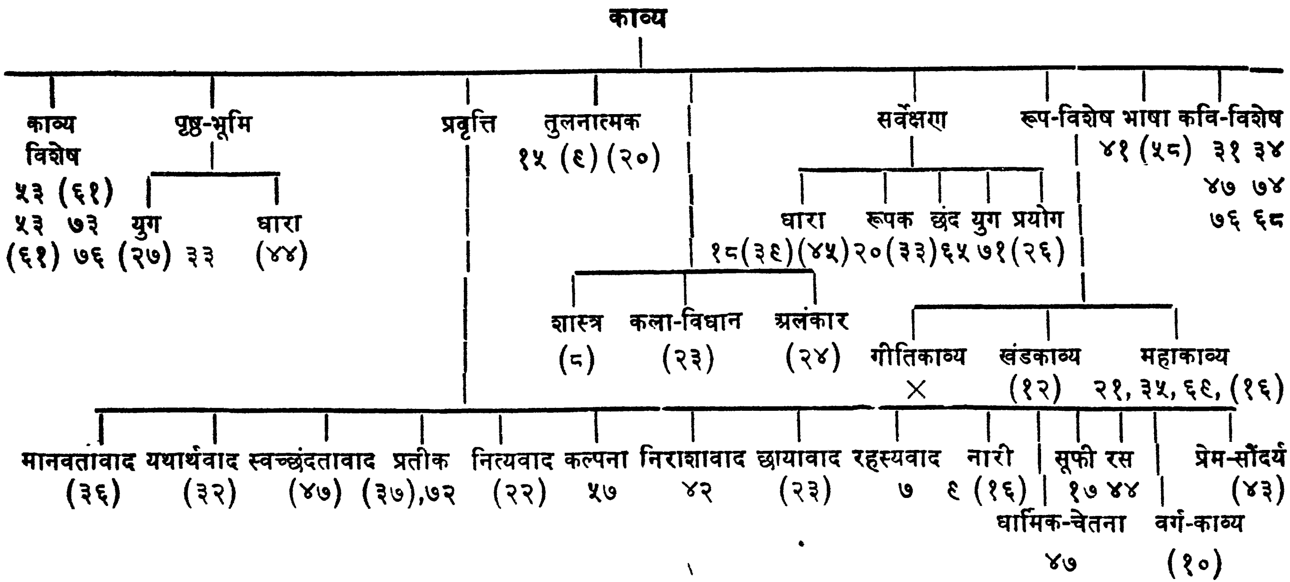
एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह संख्या आज तक की पूरी संख्या नहीं है, क्योंकि अभी तक ऐसा कोई साधन हिन्दी-क्षेत्र में प्रस्तुत नहीं हुआ जिससे इनकी ठीक-ठीक संख्या जानी जा सके। यह खेद की ही बात है। दिल्ली विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के द्वारा इस अभाव की पूर्ति का सफल प्रयास किया गया है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् के तत्वावधान में 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है। 'हिन्दी अनुशीलन' ने भी इस दिशा में कुछ उद्योग किया था पर वह भी सफल नहीं हो सका। विषयान्तर

करते हुये मुझे क्षमा किया जाय तो मैं कहूँगा कि हिन्दी का क्षेत्र बहुत विशाल है और होता जा रहा है। कितने ही विश्वविद्यालय हैं जिनमें हिन्दी का अनुसंधान-कार्य हो रहा है। जब तक उन समस्त विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों की एक ऐसी केन्द्रीय समिति गठित नहीं हो जाती तो प्रत्येक विश्व-विद्यालय के स्वीकृत विषयों को नियमित रूप से प्रतिमाह एक पत्रक के रूप में प्रकाशित करती रहे, तब तक समस्या हल नहीं हो सकती। विश्वविद्यालयों का भी सहयोग इस समिति को मिलना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय हर बार अपने यहाँ के स्वीकृत विषयों की विधिवत् एक सूची प्रस्तुत करता है—एकेडेमिक या ऐक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल में प्रेषित करने के लिए। उसी सूची की एक प्रति इस केन्द्रीय संस्थान को भेज दी जाया करे, जिससे केन्द्रीय संस्थान अपनी सूची बनाकर नियमित रूप से प्रकाशित करता रहे। तो कहना यह है कि उक्त संख्या पर निर्भर नहीं किया जा सकता, पर उक्त संख्या में जो विभाजन है, उससे जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह बहुत कुछ विश्वसनीय ही होगा।

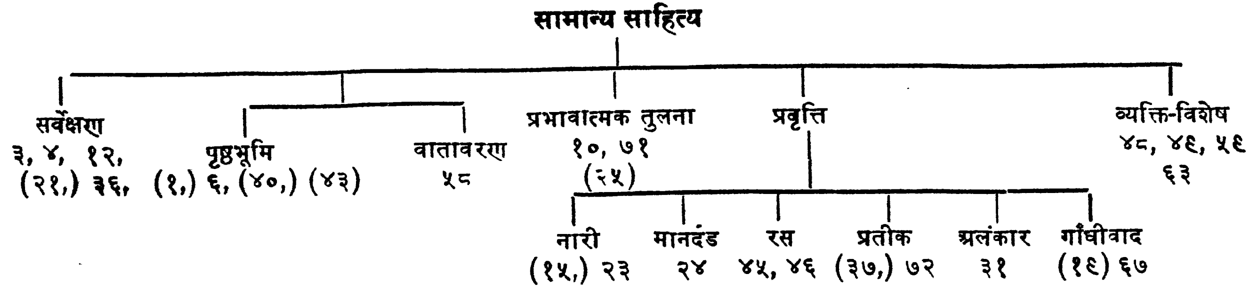
स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की उक्त तालिकाओं से यह विदित होता है कि अनु-संधान के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्व काव्य का रहा। दूसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। तीसरा स्थान नाटकों को मिलता है। उसके बाद व्यक्तिपरक विषयों को, फिर आलोचना को। इसके बाद शास्त्रीय विषय आते हैं। कहानी और गद्य-काव्य का मूल्य शास्त्रीय विषय के समान रहा है। उपन्यास-विषयक अनुसंधान तो हुए हैं, पर महत्व उपन्यासकार को मिला है। इसके उपरान्त सामान्य गद्य, निबन्ध, जीवनी, समाचार-पत्र आदि पर भी एक-एक प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं।

अनुसंधानाधीन विषयों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इस महत्व-क्रम में परिवर्तन उपस्थित हुआ है। काव्य ने अपना स्थान अक्षुण्ण रखा है। वह अब भी प्रथम स्थानीय है। सबसे अधिक संख्या में कार्य इसी पर हो रहा है। किन्तु दूसरा स्थान अब उपन्यास का हो गया है। तीसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। इसके उपरान्त व्यक्तिपरक विषयों और नाटक को समानरूपेण महत्व मिला है। आलोचना पाँचवें स्थान पर है। सामान्य गद्य और शास्त्रीय विषय पर एक-एक अध्ययन हो रहा है।

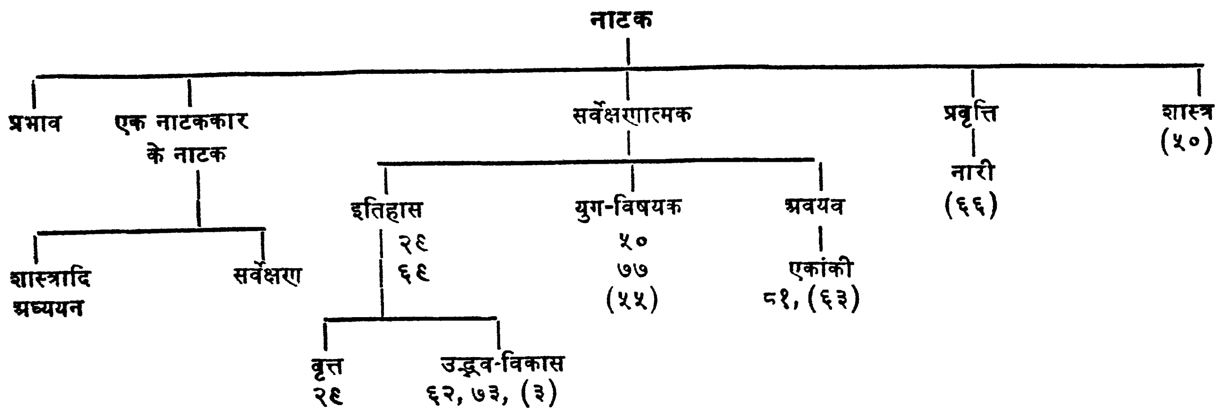
ऊपर जो विविध शीर्षक विविध विभागों के दिए गए हैं, उनमें भी विषयों में प्रकारान्तर है जिसे इन वृक्षों से समझा जा सकता है : कोष्ठक के अन्तर्गत अंक अनुसंधानाधीन विषयों के हैं जिनकी सूची निबन्ध के अंत में प्रस्तुत की जा रही है। (कोष्ठकहीन संख्याएँ अनुसंहित विषयों की हैं और कोष्ठक के अन्तर्गत संख्याएँ अनुसंधानाधीन विषयों की।)

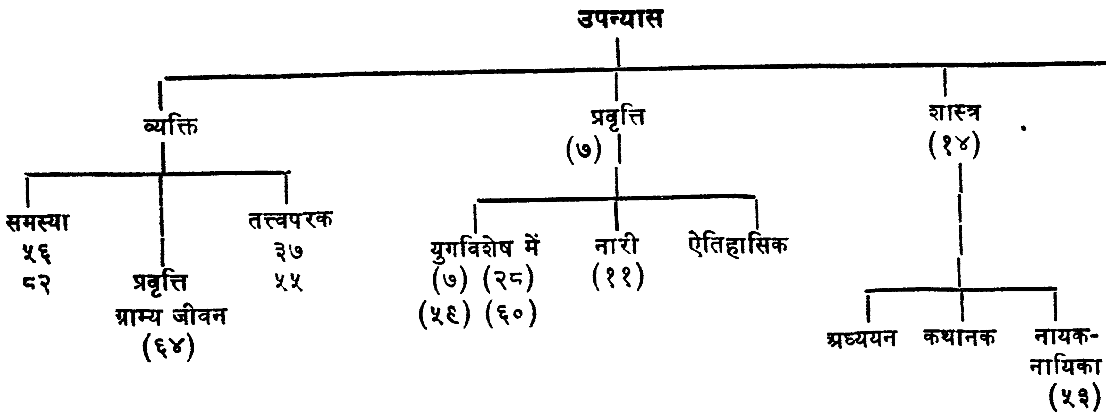



काव्य का अनुसंधान-चन्द्र अपनी पूर्ण कलाओं से देदीप्यमान हो रहा है।

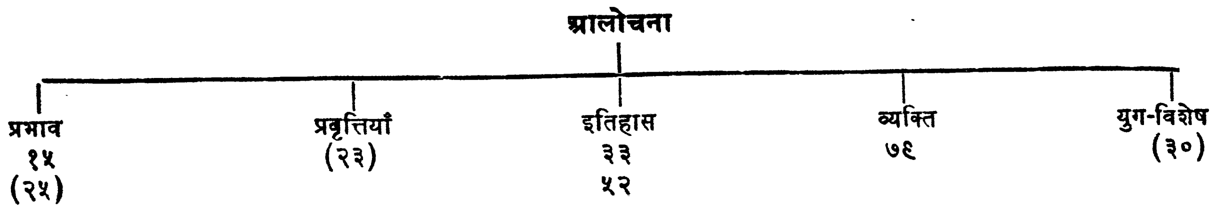



नाटक, उपन्यास और आलोचना के अध्ययन का वर्गीकरण यों किया जा सकता है :—






उपन्यास-क्षेत्र में अनुसंहित विषयों की अपेक्षा अनुसंधानाधीन विषयों की संख्या अधिक है।



इन वृक्षों के देखने से यह सामान्यतः विदित हो जाता है कि :

(१) काव्य पर सबसे अधिक अध्ययन और शोध हुआ है, और उसमें क्षेत्र और दृष्टि में कितना ही प्रकारान्तर प्रस्तुत हुआ है।

(२) काव्य का यह अध्ययन तथ्य तथा तत्त्व दोनों दृष्टियों से हुआ है। इस अध्ययन और अनुसंधान में क्षेत्र को सीमित बनाकर गहराई में उतरने की पूरी चेष्टा की गयी प्रतीत होती है।

(३) काव्य या कविता के अतिरिक्त अन्य विषय-विभागों में न तो उतनी प्रकारान्तरता विदित होती है न उतनी गहरी पैठ ही।

इसी के साथ प्रस्तुत सूची पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि निम्न-लिखित विषयों पर दुहरा-तिहरा काम हो रहा है :

(४) (क) महाकाव्य=१, २१ ३५, ६१, ६६ नायक, (२२) नारी (३४,) नाट्यतत्व परम्परा, (६१)–कामायनी

(ख) नारी ६, २३, (१०,) (१५,) (१६,) (६६)

(ग) हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्भव व विकास ३३, ५२

(घ) गद्य-काव्य, २८, ४०

(ङ) नाटक-साहित्य : इतिहास : २६, ६०, ७३, (३)

(च) प्रेमचन्द : ३७, ५५, ५६, (६४) (७२)

(छ) भारतेन्दु-युगीन नाटक-साहित्य ५०, ७७

(ज) कामायनी ५३, (६१)

(झ) मैथिलीशरण गुप्त ७४, ७८

(ञ) वृन्दावनलाल वर्मा ८२, (५१,) (७१)

(ट) रामचन्द्र शुक्ल, ७६, ८७, (५७)

(ठ) 'प्रसाद' १६, ७६, (४) (६६)

(ड) द्विवेदी ६३, (३१)

(ढ) गाँधीवाद ६७, (१६)

जिन विषयों पर दुहरा-तिहरा काम यहाँ दिखाया गया है, उनमें से कुछ काम तो वैशिष्ट्य से युक्त करके किये जा रहे हैं, पर कुछ ऐसे अवश्य हैं जो विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बिल्कुल एक-से हैं। अनुसंधाता की अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व से ही उनमें देन का अन्तर पड़ेगा।

(५) आधुनिक युग के काव्य-ग्रन्थों में केवल 'कामायनी' ही विशेष अनु-संधान और अध्ययन का पात्र समझी गयी है।

(६) ऊपर जिन विशेष कवियों और लेखकों के दोहरे-तिहरे अध्ययन का उल्लेख हुआ है उनमें प्रेमचन्द, मैथिलीशरण, वृन्दावनलाल वर्मा, 'प्रसाद,' द्विवेदी तथा शुक्ल के अतिरिक्त जिन अन्य कवि तथा लेखकों का व्यक्तिपरक अनुसंधान किया गया या किया जा रहा है, वे हैं : (१) बालमुकुन्द गुप्त, (२) बालकृष्ण भट्ट, (३) किशोरीलाल गोस्वामी, (४) अयोध्यासिंह उपाध्याय, (५) रत्नाकर, (६) पं० श्रीधर पाठक, (७) भारतेन्दु ।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस क्षेत्र में हिन्दी-अनुसंधान की प्रवृत्ति विशेष मनोयोग से हुई है, किस क्षेत्र में विशेष गहराई और व्यापकता आयी है, किस क्षेत्र में मात्र सर्वेक्षण अथवा सामान्य इतिवृत्त प्रस्तुत किये गये हैं, कौन-से काव्य विशेष अध्ययन के पात्र समझे गये हैं। इस प्रकार के अध्ययन से यह भी स्वयमेव झलक उठता है कि हिन्दी के आधुनिक युग की इस शताब्दी में ऐसे क्या-क्या विषय हैं जो छूटे हुए हैं ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अनुसंधान से प्राप्त प्रबन्धों पर दृष्टिपात करने से कोई भी व्यक्ति गर्व का अनुभव कर सकेगा क्योंकि इन अनुसंधानों में यह स्वस्थ प्रवृत्ति प्रबल है कि उन क्षेत्रों से भी सामग्री प्राप्त की जाय जो अब तक नितान्त अछूते रहे हैं । यद्यपि सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि आधुनिक युग से सम्बन्धित विषय प्रायः वे ही व्यक्ति लेना स्वीकार करते हैं जो अनुसंधान की अपेक्षा डिग्री को महत्व देते हैं और यह समझते हैं कि आधुनिक युग पर अनुसंधान बहुत आसानी से हो सकता है । पर जो लोग ऐसा समझते हैं वे निश्चय ही भ्रम में हैं । प्रत्येक युग का अनुसंधान अपनी निजी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है । किसी भी युग का अनुसंधान सरल कार्य नहीं । आधुनिक युग के कृतित्व के सूत्र इतने जटिल और विस्तृत होते हैं कि उन्हें सुलझाना और एकत्र करना सरल नहीं होता । यह बात आधुनिक युग विषयक अनुसंधान के किसी भी प्रबन्ध को देखकर समझी जा सकती है । इन प्रबन्धों के आधार पर यदि अनुसंधाताओं की यात्राओं और सम्पर्कों का भूगोल प्रस्तुत किया जाय तो विदित होगा कि उत्तरी भारत का कोना-कोना उन्हें छानना पड़ा है । विविध पुस्तकालयों की बात छोड़िये, सरकारी सुरक्षित फ़ाइलें, प्राचीन से प्राचीन हस्तलेख तथा समाचार-पत्रादि जो कहीं कूड़े के ढेर में पड़े थे, गाँवों की झोंपड़ियों में या नगरों के मकानों में बस्तों में बँधी, दीमक की शिकार होती हुई चिट्ठियाँ आदि, या ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ, कवि या लेखक के नाते-रिश्तेदारों से प्राप्त मौखिक विवरण-सभी से विविध तन्तु एकत्र कर अनुसंधाता ने अपने प्रबन्ध में अनुसंधेय का एक नया अनोखा रूप प्रस्तुत किया है; अपनी सीमाओं में विवश रहते हुए

भी उसने उसे अपनी शक्ति भर परिपूर्णता प्रदान करने की चेष्टा की है। अब तक साहित्य का इतिहास या कवि का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने वाला यहाँ-वहाँ से उठाकर जो एक ऊपरी विवरण-चित्र और अध्ययन प्रस्तुत करता था, इन शोध-प्रबन्धों ने उनके खोखले भागों और गर्त्तों को ठोस सामग्री और कड़ियों से जोड़कर परिपूर्णता प्रदान की है। यह उपलब्धि किसी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती है। यह सच है कि कहीं-कहीं प्रमाद अथवा व्यग्रता आपको खटकेगी, कहीं सतही चर्चा से भी आप ऊब सकते हैं, पर समस्त परिमाण को आप दृष्टि में रखें तो ऐसे स्थल नगण्य ही प्रतीत होंगे। यह भी ठीक है कि इन अनुसंधानों के द्वारा जो सामग्री प्रकाश में आई है और अधिक अनुसंधान से इससे भी अधिक सामग्री प्रकाश में आ सकती थी। पर इससे जो सामग्री प्रकाश में आयी है उसका मूल्य कम नहीं होता, न उस सामग्री को प्रकाश में लाने वाले अनुसंधाता का मूल्य ही कम होता है। उसने जो काम किया है उससे आगे का काम आगे वालों को पूर्ण करना है। यही सारस्वत परम्परा है। यह तथ्य-परक अनुसंधान की स्थिति है।

इन अनुसंधानों का तत्व-परक स्तर भी पूरी तरह संतोष देने वाला है। तात्विक विचारणा में जितना ऊँचे से ऊँचे उठा जा सकता है, विषयानुकूल उतनी ऊँचाई इन आधुनिक विषयों के अनुसंधानों में हमें मिल जाती है। विशद से विशद अध्ययन की छाप इन प्रबन्धों में है, अपने विषय की परम्परा के भारतीय और विदेशी सूत्रों से भी ये परिचित हैं।

सामान्य साहित्य को लें, इसमें अनुसंधान का अर्थ होता है साहित्य के समग्र रूप की दृष्टि से अनुसंधान, किसी रूप या अंश-विशेष की दृष्टि से नहीं। इस क्षेत्र में एक बड़ा कार्य तो आधुनिक युग को तीन भागों में बाँट कर किया गया है।

**सर्वेक्षण :**

आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९०० ई०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी साहित्य का विकास (१९०० से १९२५ ई०) श्रीकृष्णलाल
हिन्दी साहित्य (१९२६–१९४७ ई०) भोलानाथ
हिन्दी साहित्य में विविध वाद—प्रेमनारायण शुक्ल

**पृष्ठभूमि :**

हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

**वातावरण :**

सामाजिक वातावरण के विशिष्ट संदर्भ में आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना : डा० इन्द्रनाथ मदान

**प्रभाव व तुलना :**

हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन —लक्ष्मीनारायण गुप्त

अंग्रेजी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव —विश्वनाथ मिश्र

**प्रवृत्ति :**

नारी—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी (१८५७-१९३९ ई०) —रघुनाथ सिंह

**मानदंड :**

आधुनिक हिन्दी साहित्य में बदलते हुए मानों का अध्ययन —रामेश्वरप्रसाद मिश्र

**रस** : हिन्दी साहित्य में हास्य रस* -बरसानेलाल चतुर्वेदी

**प्रतीक** : आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रतीकवाद —चन्द्रकला

**अलंकार** : हिन्दी साहित्य में अलंकार*

**गाँधीवाद** : आधुनिक हिन्दी साहित्य में गाँधीवाद

**व्यक्ति-विशेष :**

बालमुकुन्द गुप्त —नत्थनसिंह

बालकृष्ण भट्ट —राजेन्द्र शर्मा

हरिश्चन्द्र -शिवनारायण बोहरा

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग —उदयभानुसिंह

**कृति-विशेष :**

कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन —द्वारिका प्रसाद सक्सेना

**स्वच्छन्दतावाद :**

**प्रवृत्ति** : हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और श्रीधर पाठक —श्री रामचन्द्र

**कल्पना-विधान** : हिन्दी कविता में —रामयतन सिंह

**निराशावाद :**

**आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद** —शम्भुनाथ पांडेय

**रहस्यवाद :**

**हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ*** —ब्रजमोहन गुप्त

**नारी** : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना (१६००-१६४५ ई०) —शैलकुमारी माथुर

**रस** : हिन्दी काव्य में करुण रस* —ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव

**सूफी** : दक्खिनी हिन्दी के सूफी कवि —विमल वाघ्रे

**प्रेम-सौन्दर्य** : आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम-सौन्दर्य —रामेश्वरलाल खंडेलवाल

## तुलना एवं प्रभाव :

आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेज़ी प्रभाव —रवीन्द्रसहाय वर्मा

## सर्वेक्षण :

**धारा** : आधुनिक काव्यधारा —केसरीनारायण शुक्ल

**रूप** : हिन्दी काव्य-रूपों का उद्‌भव और विकास —शकुन्तला दुबे

**छन्द** : आधुनिक हिन्दी कविता में छन्द —पुत्तूलाल शुक्ल

**युग** : भारतेन्दुयुगीन हिन्दी कविता —अविनाशचन्द अग्रवाल

द्विवेदी युग में हिन्दी कविता—पुनरुत्थान —ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र'

## रूप-विशेष :

**गीति-काव्य** : गीति-काव्य का उद्‌गम-विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा* —शिवमंगलसिंह 'सुमन'

**महाकाव्य** : हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास* —शम्भुनाथ सिंह

बीसवीं शती के महाकाव्य —प्रतिपाल सिंह

हिन्दी महाकाव्यों में नाटक* —पुष्पलता निगम

**भाषा** : गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ी बोली सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा —कपिलदेव सिंह

## कवि-विशेष :

रत्नाकर : प्रतिभा और कला —विश्वम्भरनाथ भट्ट

हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषत: पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन —रामचन्द्र

मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता —उमाकान्त गोयल

जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास —प्रेमशकर तिवारी

गुप्त जी का काव्य-विकास —कमलाकान्त पाठक

## नाटक :

**सर्वेक्षण वृत्त** : हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास —सोमनाथ गुप्त

**विकास वृत्त** : हिन्दी नाटक का उद्भव व विकास —वी० पी० खन्ना
भारतीय नाटक का उद्भव-विकास* —शिवनन्दन पांडेय
हिन्दी नाटक का उद्भव-विकास* —दशरथ ओझा
**युग** : भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य —गोपीनाथ तिवारी
भारतेन्दु युग के नाटककार —भानुदेव शुक्ल
**अवयव** : **एकांकी** : हिन्दी एकांकी —रामचरण महेन्द्र

**उपन्यास** :

उपन्यासकार प्रेमचन्द, उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन —एस० एन० शुक्ल
प्रेमचन्द : एक अध्ययन—राजेश्वर गुरु
समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द —महेन्द्र भटनागर
वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास —शशिभूषण सिंहल

**आलोचना** :

आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेज़ी प्रभाव —रवीन्द्रसहाय वर्मा
आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियाँ —रामदरश मिश्र
हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्भव-विकास —भगवतस्वरूप मिश्र
आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास —आर० के० कक्कड़
आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त —रामलाल सिंह

**कथा-साहित्य** :

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान —देवराज उपाध्याय
**कहानी** : हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास —लक्ष्मीनारायणलाल
हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन —बी० डी० शर्मा
**गद्य** : आधुनिक गद्य के विविध साहित्य-रूपों के उद्भव-विकास का अध्ययन —व० ल० कोतमीरे
**निबन्ध** : हिन्दी निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन —यू० सी० त्रिपाठी
**जीवनी** : हिन्दी में जीवनी साहित्य —चन्द्रबली सिंह
**गद्य-काव्य** : हिन्दी में गद्यकाव्य का विकास —अष्टभुजा प्रसाद पांडेय
हिन्दी गद्य-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन —पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
**समाचार-पत्र** : हिन्दी समाचार-पत्रों का इतिहास —रामरतन भटनागर

**शास्त्र-पिंगल** : आधुनिक हिन्दी कविता में छन्द —पुत्तूलाल शुक्ल

(**टिप्पणी** : पुष्पांकित प्रबन्धों में प्रसंगात् ही आधुनिक युग के साहित्य का अध्ययन सम्मिलित किया गया है।)

**लोक-साहित्य** :

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में कार्य हुआ है, यह उक्त विवरण से प्रतीत होता है। फिर भी यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जहाँ कुछ विषयों पर दुहरा-तिहरा काम हो रहा है वहाँ कुछ विषयों पर अब भी समुचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। उदाहरणार्थ, सामान्य गद्य, कवि अथवा लेखकों का व्यक्तिपरक अनुसंधान, विशिष्ट काव्यों का अनुसंधानात्मक अध्ययन, कहानी का विविधरूपेण अनुसंधान, इसी प्रकार निबन्ध का विविध-रूपी अनुसंधान तथा अध्ययन उत्साही और परिश्रमी अनुसंधाताओं की बाट जोह रहे हैं। इतनी संतोषप्रद, गौरव और प्रसन्नता की बातें होते हुए भी कुछ ऐसी कमियाँ हैं जिनसे हमारे ये प्रयत्न पूर्ण सम्मान नहीं पा सके।

**कुछ कमियाँ**—सबसे पहली कमी तो अनुसंधान प्रणाली की स्थिर प्रक्रिया-विषयक अभाव है। यह बड़े खेद की बात है कि हम इतने विशद अनुसंधान-कार्य के उपरान्त भी अनुसंधान की एक सामान्य प्रणाली स्थिर नहीं कर पाये। हमारे अधिकांश प्रबन्धों में विशाल सामग्री का उपयोग हुआ है, पर उसको व्यवस्थित रूप से अध्ययन और विश्लेषण के द्वारा प्रामाणिक निष्कर्षों तक पहुँचने की दृष्टि से उपयोग में नहीं लाया गया। निष्कर्ष और विवरण अनुसंधाता की जैसे अपनी धारणाएँ (impressions) मात्र ही प्रतीत होते हैं; तटस्थता तो दीख पड़ती है पर वैज्ञानिक प्रामाणिकता का अभाव मिलता है। सामान्य ग्रंथों और थीसिस ग्रन्थों में यह अन्तर है कि थीसिस ग्रन्थों में तटस्थता और वैज्ञानिकता आवश्यक होती हैं।

इसी से सम्बन्धित दूसरी कमी यह विदित होती है कि एक ओर अध्ययन की विशालता दिखाई पड़ती है, इतने ग्रन्थों और साहित्य और स्रोतों का उपयोग किया गया है कि इस अध्ययन से ही आतंक होने लगता है, पर वहीं ऐसा भी लगता है कि किसी विषय या बात के लिए जितने आवश्यक ग्रन्थ देखे जाने चाहिए थे, वे नहीं देखे गये और तद्विषयक निष्कर्ष या कथन उन आवश्यक ग्रन्थों के पढ़ने के अभाव में दूषित हो गये हैं।

उदाहरण के लिए, एक प्रबन्ध में लिखा गया है कि जैसे भोजपुरी भाषा ने 'कुसुमा' जैसा मार्मिक गीत प्रस्तुत किया वैसा ब्रजभाषा ने नहीं किया। अब यह स्पष्ट है कि इस लेखक ने ब्रजभाषा के साहित्य और लोक-साहित्य पर बहुत

कुछ पढ़ा है, उसने भोजपुरी पर भी ग्रंथ पढ़े हैं। पर जिस बात पर उसने ऐसे अधिकार से लिखा है, उसके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं पढ़े, और न आवश्यक क्षेत्रीय अनुसंधान ही किया। भोजपुरी का 'कुसुमा' गीत ब्रज के 'चन्द्रावली' नाम के गीत का रूपान्तर है; वह ब्रज से ही गया है भोजपुरी में और इस गीत की पत्र-पत्रिकाओं और प्रामाणिक ग्रन्थों में चर्चा भी हुई है। पर उसी को अनुसंधाता ने नहीं पढ़ा। यह तो केवल एक उदाहरण है।

और यहीं यह बात भी प्रकट हो जाती है कि हमारे अध्ययनों में कभी-कभी प्रामाणिक और अप्रामाणिक साहित्य का भेद भी नहीं किया जाता। किसी भी उल्लेख को प्रमाण की भाँति उद्धृत कर दिया जाता है, और किसी भी व्यक्ति के मत को प्रमाण रूप में दे दिया जाता है। इससे अनुसंधाता के अपने गौरव की भी क्षति हो जाती है।

इसी प्रकार, यह कमी भी खटकती है कि कभी-कभी लेखक अपने अनुसंधानीय विषय की एक-दो पुस्तकें लेकर ही उसके आधार पर सिद्धांत निर्धारित करने लग जाता है। आवश्यक यह है कि तत्सम्बन्धी प्रायः सभी पुस्तकें लेकर और उनके विधिवत् विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर कोई निष्कर्ष प्रस्तुत किए जायें। इस प्रणाली के न अपनाने से न केवल यह कि प्रबन्ध के निष्कर्ष और प्रबन्ध का स्तर ही सदोष हो उठता है, वरन् अन्याय भी हो जाता है, और एक विष को फैलने का अवसर मिलता है।

हम अभी अपने अध्ययन और तथ्यों को आँकड़ों, चित्रों, और ग्राफों से गणितीय विधि से प्रस्तुत और पुष्ट करना भी नहीं सीख सके हैं, जिससे बहुत से तत्व प्रकट होने से रह जाते हैं। तात्विक विचारणा में हम अभी कमज़ोर हैं। हमारा तत्व-चिन्तन उस पुष्ट तार्किक (लौजीकल) प्रक्रिया से नहीं हो पाता जो उसे प्रामाणिक और मान्य बना देते हैं। हमारे चिन्तन के आधारभूत तर्क वैज्ञानिक नहीं हो पाते, निजी धारणा या अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

हमारे अनुसंधानों की रूप-रेखाएँ भी सावधानी से नहीं बनायी जातीं। उनमें बहुधा अनावश्यक और भूमिका-विषयक बातें विशेष महत्व ग्रहण कर लेती हैं, जिससे एक तो प्रबन्ध असंतुलित हो जाता है, दूसरे आवश्यक विषय को अपेक्षित समय नहीं मिल पाता।

मान लीजिए आप प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों पर प्रबन्ध लिख रहे हैं तो उसमें उपन्यास विषयक परिभाषा पर अपना पांडित्य दिखाने की क्या इतनी आवश्यकता होगी कि उसपर आप ५०-६० पृष्ठ व्यय कर दें। मेरी दृष्टि में तो उपन्यास

की परिभाषा और उपन्यास तथा अन्य साहित्य-रूपों से उपन्यास के भेदादि बताने की ऐसे प्रबन्ध में कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, आवश्यक यह है कि प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास विषयक क्या 'मत' थे उन्हें खोजकर प्रस्तुत कर दिया जाय और उनमें यदि विकास-क्रम हो तो उसे सामने लाया जाय।

आधुनिक साहित्य के कुछ विशिष्ट विषयों के अनुसंधान की भूमिका भी सीधे वैदिक युग से आरम्भ होती है। क्या यह शक्ति का अपव्यय नहीं है ?

एक तो यह अपव्यय दीखता है और दूसरी ओर उसी विषय पर आपके इस अध्ययन और अनुसंधान से पहले क्या-क्या अध्ययन और अनुसंधान हो चुका हैं, उसके इतिहास का विवरण नहीं मिलेगा, जो अत्यंत आवश्यक है।

इसी प्रकार किसी विषय की भूमिका में भारत का विशद राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक इतिहास गुंफित मिलेगा, जो मूल विषय से पूर्णतः स्वतंत्र होगा। अर्थात् उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मूल विषय से कहाँ-कहाँ, कैसा-कैसा सम्बन्ध है यह आपको विदित नहीं हो सकेगा। क्या ऐसी भूमिका और ऐसा इतिहास आपके मूल प्रबन्ध के लिए आवश्यक है? क्या इससे आपके प्रबन्ध का मूल्य बढ़ेगा ? ऐसी असंबद्ध बातें ही उपहास को प्रेरित करती हैं। फिर यह देखा गया है कि उक्त इतिहास का आधार आपने उन टैक्स्ट बुकों को बनाया है जो आठवीं या दसवीं कक्षा में चलती हैं !

हम तुलना से अधिक प्रभावित हो जाते हैं। इससे बचना चाहिए। जब तक तुलना ही आपका विषय न हो तब तक तुलनात्मक आलोचना से बचिए। यदि तुलना करें ही तो वैज्ञानिक दृष्टि से कीजिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी कुछ अनर्गल और अप्रामाणिक तथा अनावश्यक बातें हमारे प्रबन्धों में आ जाती हैं, जो नहीं आनी चाहिए। इन बातों का समावेश न हो, ऐसा उद्योग प्रत्येक अनुसंधाता को करना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि ऐसी सेमीनार—गोष्ठियाँ—शीघ्र ही एक सामान्य रिसर्च-प्रणाली की स्थापना में समर्थ हो सकेंगी, जिससे सामान्य कमियाँ दूर हो जायेंगी, और अनुसंधाता की व्यक्तिगत प्रतिभा का विशेष उत्कर्ष उससे ऊपर किसी नई चमत्कार-प्रणाली के उद्भव में दिखायी पड़ने लगेगा।

## सुझाव

१—एक स्वस्थ आलोचना-परम्परा की आवश्यकता है जो शुद्ध सारस्वत दृष्टि से वस्तु-निष्ठ हो।

२—एक विदग्ध-मंडल की आवश्यकता है जो प्रबन्धों के कुछ भागों को

संशोधित कर सके। हमारे देशमें भी विदेशों की भाँति एक केन्द्रीय शोध-संस्थान की आवश्यकता है, जहाँ से एक केन्द्रीय शोध-पत्रिका निकले जिसमें शोधार्थियों के प्रबन्ध के कुछ अंश प्रकाशित किए जाएँ और विद्वन्मण्डल उस पर अपनी टीका-टिप्पणी करे।

३—घोर वस्तु-निष्ठता की बड़ी आवश्यकता है।

४—तुलनात्मकता को बचाना आवश्यक है जब तक वह विषय के अन्दर न हो।

५—अनुसंधित्सुओं के समय-समय पर मिलते रहने के समान ही आवश्यक है कि निर्देशक तथा प्राध्यापकगण भी समय-समय पर अनुसंधान-समस्याओं पर पारस्परिक विचार-विमर्श के लिए मिलते रहें।

डा० नगेन्द्र

# अनुसंधान और आलोचना

यों तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की परम्परा अत्यंत प्राचीन है, किन्तु हिन्दी में इसका पारिभाषिक रूप पिछले दो दशाब्दों में ही स्थिर हुआ है। आज इसका प्रयोग अंगरेज़ी शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप में होता है और एक विशेष प्रकार की प्रविधि एवं उपलब्धि इसके साथ नियमित रूप से सम्बद्ध हो गई है। लक्ष्य-भेद से अनुसंधान के स्थूलत: दो भेद किये जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुत: यह विभाजन सर्वथा स्थूल है : अनुसंधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एवं उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुषंगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उससे अनुसंधान की आत्मा उपाधि-ग्रस्त ही होती है, इसीलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं, अत: अपने आवरण के अन्तर्गत उपाधि-सापेक्ष्य रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष्य अनुसंधान के लिए प्राय: निम्नलिखित उपबन्धों का विधान है :

(१) इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसंधान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय विशेष के अध्ययन को कहाँ तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार

संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

—(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है—केवल एक बात नयी है। वहाँ 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसंधान के तीन तत्त्व हैं :

१—अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का नवीन आख्यान (पुनराख्यान)

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता

४—इनके अतिरिक्त एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

अनुसंधान के इन चार गुणों में से प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपों के लिए समान है। इस प्रकार अनुसंधान के अपने विशिष्ट धर्म तीन हैं :— नवीन तथ्यों का अन्वेषण, उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान और ज्ञान की वृद्धि।

आप लोगों की सुविधा के लिए मैं संक्षेप में तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित (प्रकाशित) रहते हैं किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित (प्रच्छन्न) रहते हैं—अथवा काल के आवरण में लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसंधान प्रायः काल-सापेक्ष्य-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसंधान प्राचीन विषयों की शोध में ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह साधारणतः मान्य होते हुए भी आवश्यक नहीं है—क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसंधान के सामान्यतः दो रूप हैं—(१) काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण और (२) विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए, तुलसी के युग की परिस्थितियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ, उनकी रचनाएँ, उन रचनाओं की अनेक प्रतियाँ, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियाँ आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं जो काल-सापेक्ष्य हैं—अर्थात् काल

के प्रवाह में से जिन्हें ढूंढ़कर निकालना पड़ता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं—जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि जो आन्तरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। ये दोनों अन्वेषण-प्रक्रियाएँ तथ्यानुसंधान के अन्तर्गत आती हैं और चूँकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसंधान में इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अतः तथ्यानुसंधान की सम्भावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नहीं है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या प्रसाद की जीवन-घटनाओं की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नहीं है, उनकी रचनाओं के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियों के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की जरूरत नहीं है, परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते हैं जिन का अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी-काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहाँ तक तो हुई तथ्यानुसंधान की बात। अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यंजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु-रूप में जड़ है, किन्तु मानव-जीवन के संदर्भ में —अर्थात् मानव-चेतना के संसर्ग से वह चैतन्य बन जाता है : मानव-चेतना के संसर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमें कौंध जाती है उसी को आलंकारिकों ने व्यंजना कहा है। वास्तव में तथ्यों के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विहित करना है। यद्यपि व्यंजना तथ्य रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अन्ततः ससीम ही होती है, किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक अर्थछायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थछायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए अनुसन्धान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसंधान के अंतर्गत आता है। उपर्युक्त सभी तथ्य, चाहे वे बहिरंग हों या अंतरंग, केवल आधार हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन राजपत्रों में तुलसी-विषयक उल्लेख आधारमात्र है, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा व्यंजित तुलसी का जीवन-चरित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख तथ्य है और उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यंजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का आख्यान है—यह व्यंजना अनेकरूपा हो सकती है और उसी के अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत

स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएँ स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाता उनकी व्यंजनाओं का उद्घाटन करता है–अर्थात् उनके द्वारा व्यंजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषों का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वयं तथ्य बन जाते हैं और अनुसन्धाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अन्तरंग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करता है। उनमें निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का, उनकी शैली के तत्त्वों का, भाषा के तत्त्वों—शब्द-समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुतः तथ्यानुसंधान के अन्तर्गत ही आएगा—भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरंग न होकर अंतरंग हैं, किन्तु हैं ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है अन्यथा ये भी जड़वत् हैं। इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाएँ हैं और विनयपत्रिका परवर्ती—इस तथ्य की उपलब्धि महत्वपूर्ण है किन्तु साधन रूप में ही अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यंजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है इस क्रम-विकास द्वारा व्यंजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वों का विश्लेषण तथ्यानुसंधान मात्र है, इन तत्त्वों के द्वारा व्यंजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसन्धान तथ्याख्यान है : उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' में तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना गोस्वामी 'तुलसीदास' में तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यों के संकलन को देख कर सच्चा अनुसंधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आंतरिक जिज्ञासा—काव्य के मर्म के उद्घाटन में प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य में साधर्म्य-मूलक अलंकारों की संख्या वैषम्य-मूलक अलंकारों से अधिक है—यह एक उपयोगी तथ्य है, इसकी व्यंजना यह है कि तुलसी के काव्य में वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्वपूर्ण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मनःशांति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति रूप नहीं है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यंजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुँचने में सहायता देता है—यही तथ्याख्यान है।

विगत ६ वर्षों से मेरा अनुसंधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है—अनेक

विषयों के निरीक्षकों-परीक्षकों के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे हैं। इस विचार-विनिमय के अंतर्गत अनुसंधान के विषय में अनेक प्रश्न सामने आये हैं। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीति-काल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस कैसे लिखा जाएगा' ? 'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसन्धान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोधमण्डल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अन्तर्गत अनुसन्धाता क्या शोध करेगा ! मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा : परवर्ती अनुसंधाता उसके आधार पर अन्तरंग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिख-कवियों के ग्रन्थों का पाठानुसन्धान और सम्पादन तो अनुसंधान के अन्तर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं—सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अँगरेजी का एक शब्द है 'थीसिस' जो संस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है,—इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन-विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध-प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अँगरेजी में शोध-प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शोध-प्रबन्ध में किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसंधित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसंधान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ अध्ययन काफ़ी विकसित हो चुका है : जहाँ प्रारम्भिक कार्य ही नहीं—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसन्धान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबंध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य

शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय-आलोचना, निबन्ध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे में यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनिकाव्य है और उसी के प्रकाश में सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है—यहाँ शोधकर्ता अनेकता में एकता के अनुसंधान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है—इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन होती है, अतः यहाँ भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसंधान में यह आशंका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यों को विकृत रूप में पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्रायः सम्भव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तुपरक नहीं मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टतः उपर्युक्त प्रणाली में दूसरी बात का ख़तरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो ख़तरे से ख़ाली कभी रही ही नहीं।

अनुसंधान का तीसरा प्रमुख तत्व है ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार। वास्तव में यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—ये दोनों तत्त्व इसी सिद्धि के साधन हैं। इनमें से कोई एक तत्त्व या सभी तत्व मिलकर अंततः ज्ञान की वृद्धि करते हैं—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव में अनुसंधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, संप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्वपूर्ण धर्म हैं, किन्तु वे व्यावर्तक धर्म नहीं हैं क्योंकि एक तो उनके अभाव में भी अनुसंधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में भी उनका उतना ही वरन् इससे भी अधिक महत्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव में अनुसंधान का स्वरूप खण्डित हो जाता है—ऐसा विवेचन या प्रतिपादन जो ज्ञानवृद्धि में सहायक न हो अनुसंधान की परिधि में नहीं आयेगा या कम से कम शुद्ध अनुसंधान के अंतर्गत नहीं माना जायेगा। विचार या भाव का संप्रेषण अपने आप में साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है—एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप में अनुसंधान के

अंतर्गत नहीं आयेगा। अतः निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसंधान का व्यावर्तक धर्म है।

'आलोचना' का शब्दार्थ है सर्वांग निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र में आलोचना से अभिप्राय: है किसी साहित्यिक कृति का सांगोपांग निरीक्षण, इसके अंतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते हैं—(१) प्रभाव-ग्रहण, (२) व्याख्या-विश्लेषण और (३) मूल्यांकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलतः कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय में उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात् प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरान्त वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है। सौंदर्य-शास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियों और समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यों लगती है। और अंत में इन दोनों प्रतिक्रियाओं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के अन्तर्गत ये तीन प्रतिक्रियायें आती हैं—किसी न किसी रूप में आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है किन्तु समालोचना में प्रायः इन तीनों में से किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

## अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों की केवल जाति ही नहीं, उपजाति भी एक है। अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है : व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनों में समान हैं। अनुसंधान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या-विश्लेषण है, दोनों में विवेचन, कार्य-कारण-सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-व्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के संतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति भी दोनों में प्रायः समान ही है। तथ्य-विश्लेषण के उपरान्त तत्त्व-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य-विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्व अनुसंधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है, उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसंधान के लिए एकान्त अनिवार्य तो है ही, किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया जा सकता

क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना में विश्वास की दृढ़ता नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं। मनोविज्ञान से पुष्ट संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नहीं करते—उनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' है, उसमें सम् उपसर्ग लगाकर संधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना, निशाना लगाना। और आलोचना की मूल धातु है 'लुच्' अर्थात् देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनों के रूढ़ अर्थ में आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बाँधकर उसके पीछे बढ़ना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनों के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं—अन्वेषण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता, और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के भी पूर्व-क्रिया रूप में अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है, फिर भी अनुसंधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णतः सह-व्यापक नहीं है। अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को शुद्ध अनुसंधान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवनचरित-विषयक अनुसंधान, पाठानुसंधान, भाषावैज्ञानिक अनुसंधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नहीं आ सकते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रों का अनुसंधाता आलोचन-शक्ति एवं निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नहीं होता: वास्तव में इन सभी क्षेत्रों में भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र, परन्तु आलोचना का प्रयोग यहाँ हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के अर्थ में ही कर रहे हैं, सामान्य अर्थ में अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ में नहीं। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसंधान की गरिमा को वहन नहीं कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में पूर्ण सहव्याप्ति नहीं है।

अपने मंतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ में आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र में एक सवाल था: 'आलोचना विज्ञान है या कला?' मुझे याद

नहीं उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन में इसका उत्तर स्पष्ट है : आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली में आलोचना न तो उस अर्थ में रस का साहित्य है जिस अर्थ में कविता, उपन्यास, कहानी आदि हैं और न उस अर्थ में ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान-शास्त्र या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नहीं सकती क्योंकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना—उसका प्राण है रस ; अतः साहित्य की विवेचन-पद्धति उसके अंगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव उसमें भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अंतर्भाव अनिवार्यतः हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, उसमें आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है, कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपों से उसके रूप-वैशिष्ट्य को पृथक् करती है। अनुसंधान के उपबंध ४ में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'संतोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं : उदाहरण के लिए निबंध की ललित गद्यशैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है; किन्तु साहित्यिक अनुसंधान में उसका महत्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं है, वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरंग अथवा अंतरंग तथ्यों के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर इन तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकांत वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसंधान

के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकांत तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित् नहीं है : आत्मरस का यत्किंचित संस्पर्श उसके लिए एकांत वर्जित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है : संदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रन्थ-सूची, पाद-टिप्पणियाँ आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अंतर्गत आती है। वास्तव में यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहाँ इसका उतना अनिवार्य महत्व नहीं है। शुद्ध आलोचना में आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य-विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है : वस्तुतः इनसे उसका अवधान-भंग होने की भी संभावना हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नहीं होता—अनुसंधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है, किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसंधान ज्ञान की वृद्धि में योग नहीं देता वह विधानतः असफल है, किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनों के 'आरम्भ' में भी स्पष्ट भेद हो जाता है। 'आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया।' अनुसंधाता के लिए वह आवश्यक नहीं है—प्रायः बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यारम्भ तथ्य-संकलन से करता है जिसमें उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसंधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम में बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसंधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो संक्षेप में अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दूं जिससे आगे के विवेचन में सहायता मिल सके।

साम्य : (१) साहित्यिक अनुसंधान और साहित्यिक आलोचना एक ही विद्या—साहित्य-विद्या—के दो उपभेद हैं। (२) दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनों की प्रक्रिया में तथ्यों के संकलन—त्याग एवं ग्रहण, व्याख्यान-

विश्लेषण, निष्कर्ष-ग्रहण का प्रायः उपयोग किया जाता है।

वैषम्य :—(१) किन्तु अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं—धात्वर्थ के अनुरूप अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसंधान के उपबंधों की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का महत्व अनुसंधान के लिए अनिवार्य है—आलोचना के लिए उसका महत्व परिशिष्ट रूप में ही रहता है।

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष (एपेरेंट) उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी सापेक्षिक धारणाएँ और मानस-बिम्ब थोड़े बहुत स्पष्ट अवश्य हो गए होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे आज के प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूँ : क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है : क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यत: उत्तम अनुसंधान नहीं है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यत: उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये आलोचक हैं शान्तिप्रिय

द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्य-पूर्वक उनके सफल अनुसंधाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रिय जी की जिन रचनाओं का शोध-महत्व संदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्रायः निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिरकर जहाँ आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृति अपने आप में महत्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आप से किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के संदर्भ-ग्रंथों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में, और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में भी, ऐसे ग्रंथों का महत्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता किन्तु ये सब तो अनुसंधान की सामग्री या साधन मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनु-संधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनु-संधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्रारूप हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। तथ्य और सत्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परि-णति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध में तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन

आख्यान के अंतर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प-रूप में किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अंतर्गत न होकर उपविद्या के अंतर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी में अनुसंधान का कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिंता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धांतिक निबंधों में तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है। वस्तुतः आत्मा का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और सांख्य की पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं, परवर्ती अनुसंधाताओं के विशालकाय ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाये हैं—बिहारी, घनानन्द, आदि कवियों के विषय में चिंतन के जो सूक्ष्म तत्त्व वे अपने इतिहास में निकालकर रख गये हैं, परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनुसंधेय क्या है—तत्त्व ही न? इस तत्त्व-शोध की सामान्यतः दो विधियाँ हैं: एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है—वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है, दूसरी का आधार अधिक दृढ़ और पुष्ट है किन्तु गति मन्थर एवं विलम्बित है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं: पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किन्तु भ्रांतिपूर्ण भी हो सकते हैं, दूसरी में भ्रांति की आशंका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमें एक बड़ी आशंका यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल में उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है—तथ्यों के तक्र के स्वाद में तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्हीं दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहाँ वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत्

प्रयोग हो रहा था। यहाँ आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ जो प्रचलित प्रणाली के साथ संघर्ष में आने लगी। उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्व बढ़ा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आई। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी अनुसंधान का वरन् हिन्दी आलोचना का भी कल्याण हुआ किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अंतर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को समझने के लिए सांख्यिकी परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियंत्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूप-विधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अन्तर्दर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव में यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहाँ विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं: वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। जो विद्वान विज्ञान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक

और सामाजिक विज्ञानों का। पर, इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नहीं है, इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है, हिन्दी का अनुसंधाता यह समझने लगा है कि अनुसंधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है : सत्साहित्य और असत्साहित्य—यहाँ तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता ? फलतः आज साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का संग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अंतर्गत नहीं आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिषद् की निबन्ध-गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था, और, सुना था बाद में कतिपय विद्वानों को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव में यह है कि साहित्यिक अनुसंधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती अर्थात् जो अपनी विषय-वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में सर्वथा अक्षम है, साहित्य के अनुसंधान के अंतर्गत संग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसंधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए राम-काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत १०-१५ वर्षों में नवीनता के अन्वेषकों ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेंगे उनका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है—ठीक है; मैं भी इसे मानता हूँ किन्तु अनुसंधान के विषय का शीर्षक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है : रामभक्ति अथवा कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों का इतिहास नहीं है। जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अन्तर्गत उसका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाथों और सिद्धों की सैकड़ों रचनाओं का हमारे खोजियों ने साधुओं की गुदड़ियों में से निकालकर ढेर लगा दिया है; आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। निर्गुण संतों की साम्प्रदायिक बानियाँ जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितान्त अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-

रसिक ने जिनका भूल कर भी उल्लेख नहीं किया, आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु और द्विवेदी युगों की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी ज़ोर से हो रहा है—और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ संपर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्त्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था :

**गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।**
**इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।।**

भामह : काव्यालंकार २।८७

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोंसलों में जा रहे हैं। यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंतव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसंधान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाज-शास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संत-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य, शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और इसका कारण क्या है ? केवल यह ग़लत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रेटा को फिर से मिला कर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकाल कर फेंक दिया था। जैसा कि

मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफ़ाइनरी) में साफ़ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य-सत्य की शोध ही न ? जिस अनुसंधान में काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है ?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूँ। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रांतियाँ तो उत्पन्न नहीं हो गईं और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूँ किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूँ और अनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—अनुसंधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं है, अनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्य-शोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्त्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह अनुसंधान का अथ है, इति नहीं है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसंधान की संभावनाएँ बनी रहती हैं। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कई अनुसंधाता ध्रुवदास की काव्यकला, दार्शनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसंधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधारमात्र है और प्रारम्भिक रूप होने के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट्० के लिए इस प्रकार के शोधकार्य की संस्तुति करने में मुझे अत्यन्त संकोच होता है, जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४—आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की कल्पना नहीं कर सकता। शोध-नियमों के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबन्ध में आलोचन-क्षमता का परिचय दिया है। सत्य-शोध के तीन संस्थान हैं—तथ्य-संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार में परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि सम्भव नहीं है और विचार को प्रतीति में परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए भावन की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति में परिणत करने के लिए दर्शन अनिवार्य है—और ये दोनों ही साहित्या-लोचन के अंतरंग तत्त्व हैं। अतः उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में निर्भ्रान्त रहना चाहिए।

डा० दीनदयालु गुप्त

# हिन्दी-साहित्यिक अनुसंधान के प्रकार

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि साहित्य भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की सरस और कल्याणकारी अभिव्यक्ति है। साहित्य में जिस जीवन का उद्-घाटन भाषा द्वारा किया जाता है उसका सम्बन्ध मानव के शरीर और अभ्यन्तर के अतिरिक्त इस नाम-रूपात्मक सृष्टि के अनेक रूप और व्यापारों से भी है। साहित्य की सरसता और उपयोगिता यद्यपि मानव-जीवन के लिये ही है परन्तु मनुष्य का साहचर्य सृष्टि के अन्य प्राणियों और विविध व्यापारों से सदैव रहा है। इसलिये मानव-जीवन और मानव द्वारा निर्मित साहित्य के विषयों का क्षेत्र उतना ही व्यापक और विस्तृत है जितनी व्यक्त-अव्यक्त यह सृष्टि है। मानव की जिज्ञासा सृष्टि के व्यक्ताव्यक्त बहुमुखी जीवन को जानने की सदैव से रही है और अब भी है। सत्य क्या है, भौतिक प्रकृति के पीछे तत्त्व क्या है, और सत्य और तत्त्व के आवरण का क्या स्वरूप है, इस प्रकार के बोध अथवा ज्ञान के लिये वह अपने भीतर और बाहर की प्रयोगशालाओं में बैठकर नाना-रूपात्मक सृष्टि के भौतिक-अभौतिक, स्थूल-सूक्ष्म तथा मूर्त-अमूर्त तत्त्वों की खोजबीन करता है। अपने ज्ञान और अनुभवों को विस्मृति से बचाने के लिये वह उन्हें भाषाबद्ध करता है। नवीन ज्ञान की खोज के साथ वह विस्मृत ज्ञान को पुनर्जीवित करता है। इस तरह मानव का अन्वेषण-व्यापार सदैव चलता रहता है। अनुसंधान का उद्देश्य हमारे ज्ञान की वृद्धि करना और प्राप्त ज्ञान की मौलिकता एवं उपादेयता का इंगित करना है। भारतवर्ष में हमारे ऋषियों ने अपनी चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा अनेक आध्यात्मिक अनुसंधान किये थे, प्राप्त ज्ञान की अनेक प्रकार से व्याख्या की थी। पाश्चात्य देशों में तो भौतिक

जगत के आश्चर्यकारक आधिभौतिक अनुसंधान हुए हैं और हो रहे हैं। जो बात किसी समय केवल कल्पनामात्र समझी जाती थी आज वह प्रत्यक्ष एवं सिद्ध तथ्य हो रही है।

अन्वेषण अथवा अनुसंधान के विषय कितने प्रकार के हैं, अथवा अनुसंधान कितने प्रकार का होता है—यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। वास्तव में जितने रूप सृष्टि-जीवन के हैं उतने ही विषय अनुसंधान के भी हैं। वैज्ञानिक, दार्शनिक, योगी तथा शास्त्रकारों ने सृष्टि के रूप, व्यापार और धर्मों का विश्लेषण, नियमन और व्यवस्थापन करके अनेक शास्त्र बानए हैं। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अर्जित अनुभव और ज्ञान-राशि को मुख्यतः तीन रूपों में लिखित-अलिखित भाषा द्वारा संचित किया है—(१) काव्य-रूप में, (२) शास्त्र-रूप में तथा (३) पुराण और इतिहास-रूप में। इन्हीं तीन आधारों पर समस्त अनुसंधान के तीन क्षेत्र हो सकते हैं—(१) काव्य अथवा साहित्य-सम्बन्धी अनुसंधान (२) शास्त्र-सम्बन्धी अनुसंधान (३) पुराण और इतिहास-सम्बन्धी अनुसंधान।

उक्त तीनों प्रकार के अनुसन्धान अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रखते हैं और एक दूसरे में सम्मिलित भी हैं; जैसे किसी शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रणयन काव्य द्वारा हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक काव्य-रूप और शास्त्र-रूप का इतिहास होता है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन में शास्त्रकार के परिचय की जिज्ञासा की पुष्टि भी ऐतिहासिक तथ्यों से होती है। उसी प्रकार से साहित्य या काव्य-क्षेत्र के अनुसंधानों का सम्बन्ध विविध शास्त्र और इतिहास दोनों से होता है। इस प्रकार साहित्यिक अनुसंधान के भी मोटे रूप में हम तीन भेद कर सकते हैं।

१. शुद्ध साहित्यिक अन्वेषण।
२. शास्त्रपरक साहित्यिक अन्वेषण।
३. ऐतिहासिक तथ्यपरक साहित्यिक अन्वेषण।

**साहित्यिक अथवा काव्यपरक अन्वेषण**—यहाँ हम 'साहित्य' और 'काव्य' शब्दों को समान अर्थ में ले रहे हैं। हिन्दी में काव्य व्यापक अर्थ में अर्थात् साहित्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और कविता के संकुचित अर्थ में भी। उधर अँग्रेज़ी में 'साहित्य' शब्द का भी प्रयोग व्यापक और संकुचित दो अर्थों में होता है। व्यापक रूप में साहित्य के अन्तर्गत सभी शास्त्रों की ज्ञानराशि और इतिहास के सभी तथ्य आ जाते हैं, संकुचित अर्थ में केवल मानव-अनुभूति और विचारों से पूर्ण गद्य-पद्यात्मक सरस और रुचिकारी शैली में प्रतिपादित कृति साहित्य है। यहां हम संकुचित अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग करेंगे। और इसी अर्थ से सम्पन्न साहित्य-सम्बन्धी अनुसंधानों के प्रकारों पर प्रकाश

डालेंगे। साहित्य दो प्रकार का होता है। एक लिखित नागरिक साहित्य, दूसरा मौखिक लोक-साहित्य। दोनों प्रकार के साहित्य की गवेषणा हो सकती है।

शुद्ध काव्य अथवा साहित्य-सम्बन्धी अनुसंधानों के भेद काव्य के विविध तत्त्वों के अनुसार हम कर सकते हैं। काव्य के मुख्य तत्त्व हैं विषय-वस्तु, भाव, विचार, शैलीगत कला तथा भाषा। किसी साहित्यिक कृति में केवल एक ही तत्त्व हो अथवा केवल एक ही तत्त्व को लेकर अनुसंधान हो सकता हो, ऐसी बात नहीं है। एक ही अध्ययन में उक्त तत्त्वों में से कई तत्त्वों का अध्ययन हो सकता है। इस प्रकार काव्यानुसंधान में उक्त तत्त्वों की मुख्यता के आधार से उसके ये प्रकार हो सकते हैं—

१. वस्तु-तथ्यानुसंधान, २. भावानुसंधान, ३. विचारानुसंधान, ४. कलानुसंधान ५. भाषानुसंधान।

**वस्तु-तथ्यानुसंधान**—इस प्रकार के अनुसंधानों में किसी काव्य-कृति के वर्ण्य विषय का विवरण और उसी के तथ्यों का आकलन और वर्णन होता है। साहित्य के विषय जीवन के विविध क्षेत्रों और व्यापारों से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए इस प्रकार के अन्वेषणों का सम्बन्ध विचारात्मक क्षेत्रों से घनिष्ठ रूप में होता है, जैसे सामाजिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र आदि। और वस्तु-तथ्यों के प्रकार-भेद इन्हीं क्षेत्रों के आधार से हो जाते हैं। जैसे 'रामचरितमानस की कथा-वस्तु और उसके आधार-सूत्र' अथवा 'पद्मावत की कथा-वस्तु और उसका संगठन।' हिन्दी में वस्तु-तथ्यों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन भी हुए हैं। जैसे—'रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु का तुलनात्मक अध्ययन।' 'रामचरितमानस और कृत्तिवास कृत बंगला रामायण का तुलनात्मक अध्ययन।' 'राम-कथा : उद्‌भव और विकास।' आदि

**भावानुसंधान**—किसी काव्य-कृति में, चाहे वह कविता, नाटक, उपन्यास आदि में से कोई भी काव्य-रूप हो, निहित भाव और उससे सम्बन्धित रस की दृष्टि से उस कृति का गवेषणात्मक अध्ययन होता है। मानव-भावों की अनेक कोटियाँ हैं। हमारे काव्यशास्त्रकारों ने मुख्य भावों को नौ या दस प्रकार का माना है और उपभावों को जिन्हें संचारी भाव कहते हैं ३३ प्रकार का माना है। इनमें से किसी एक मुख्य भाव अथवा उनमें से अनेक भावों का और उनसे सम्बन्धित रसों का अध्ययन किसी एक काव्य-कृति में, अथवा, किसी विशिष्ट काल की काव्य-कृतियों में अथवा किसी एक क्षेत्र के लेखक-वर्ग की कृतियों में हो सकता है; जैसे—'तुलसी के काव्य में शृंगार-रस' अथवा 'अकबरी दरबार के कवियों का शृंगार-चित्रण।' अथवा 'रीतिकाल में वीरभाव', 'हिन्दी काव्य

में करुण-रस', 'मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में श्रृंगार रस', 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में वीररस' आदि। भावों के उत्पादक और उद्दीपक कारण होते हैं। भाव के साथ इन कारणों का वर्णन, जिन्हें हम आलम्बन और उद्दीपन विभाव कहते हैं, अनिवार्य होता है। कभी-कभी भावानुसंधान सम्बन्धी अध्ययनों में भाव से सम्बन्धित शास्त्रीय ढंग के विवेचन भी होते हैं; जैसे—लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत एक थीसिस—'हिन्दी महाकाव्य में नायक' में विषय का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें महाकाव्य के मुख्य पात्र का आलम्बन रूप में अध्ययन किया गया है। जैसा कि हमने अभी कहा है, काव्य अथवा साहित्य का प्रकाशन गद्य-पद्य-शैली और प्रबन्ध, मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी, चरित्र अथवा जीवनी, पत्र, यात्रा आदि कई रूपों में होता है। इसलिये भाव का अनुसंधानात्मक अध्ययन किसी भी प्रकार की काव्य-कृति में किया जा सकता है।

**विचारानुसंधान**—इस प्रकार के अनुसंधानों की कोटि को हम शास्त्रानुसंधान भी कह सकते हैं। जीवन के किसी भी क्षेत्र से संबंधित विचारों का तर्क और बुद्धिसंगत विश्लेषण, उनका नियमन और विवेचन शास्त्र कहलाता है। काव्य-रूप में भी उक्त शास्त्र-सम्बन्धी विचारों का सरस, सहज, प्रतिपादन बहुधा हुआ है। किसी काव्य-कृति की किसी विचार-प्रणाली अथवा शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से व्याख्या और विवेचना करना विचानुसंधान है। शास्त्रीय अन्वेषणों में किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन किन्हीं शास्त्रीय नियमों के आधार से अथवा किसी शास्त्र के प्रकाश में होता है। विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, संस्कृति-विज्ञान, साहित्य-शास्त्र, भाषा-शास्त्र आदि शास्त्रीय विचारों और सिद्धान्तों का आकलन काव्य-कृतियों में देखा जा सकता है। इस प्रकार के खोज-कार्य हिन्दी में हुए हैं। वैसे हिन्दी में अनुसंधान-कार्य बहुधा मिश्रित ढंग के ही हुए हैं फिर भी उनमें किसी एक प्रकार के अनुसंधान की प्रमुखता के आधार पर उनको इस प्रकार के विभिन्न वर्गों में रखा जा सकता है। जैसे डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन', डा० रामदत्त भारद्वाज का 'तुलसी-दर्शन', डा० बड़थ्वाल का 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', डा० रसाल का 'अलंकार-शास्त्र का विकास', डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'कबीर की विचारधारा' आदि थीसिस शास्त्रीय ढंग की विचारात्मक अनुसंधान-कृतियाँ हैं। और भी मौलिक प्रबन्ध इस वर्ग के हैं जैसे 'राम-भक्ति काव्य में रसिक सम्प्रदाय', 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त', 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', 'रामानन्द सम्प्रदाय के हिन्दी कवि',

'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त', 'नाथ पंथ के हिन्दी कवि', 'मलूकदास और उनका सम्प्रदाय', 'सुन्दर-दर्शन।'

भावात्मक तथा विचारात्मक अनुसंधानों का यह तात्पर्य नहीं है कि वे भावात्मक अथवा विचारात्मक शैली में लिखे गए हैं। उनका तात्पर्य यही है कि एक में भावात्मक तथ्यों की विवेचना है और दूसरे में विचारात्मक तथ्यों की व्याख्या है। 'वाह! बाबा सूरदास! आपने खूब कहा है! ऐसा कहा है कि आपकी कलम चूमने को जी चाहता है।' इस प्रकार के कथन न तो तथ्यात्मक ही कहे जा सकते हैं, और न व्याख्यात्मक ही।

**प्रवृत्त्यनुसंधान**—कभी किसी एक काल या एक स्थान के लेखक-वर्ग की कृतियों में एक ही प्रकार की भाव और विचारधारा प्रवाहित मिलती है। ये भाव और विचारधाराएँ जीवन के किसी भी क्षेत्र, जैसे सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, प्राकृतिक क्षेत्र, से सम्बन्धित हो सकती हैं। साहित्यिक कृतियों का उक्त भाव और विचार-प्रवृत्तियों के आधार से अध्ययन करना अथवा काव्य-कृतियों के आधार से किसी प्रकार की सामान्य प्रवृत्ति की खोज करना प्रवृत्तिपरक अनुसंधान है। इस प्रकार के थीसिसों के उदाहरण हैं—

"आधुनिक काव्य धारा"—डा० केसरी नारायण शुक्ल।

"हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ"—डा० ब्रजमोहन गुप्त, प्रयाग।

"आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ"—डा० रामदरश मिश्र, काशी।

"हिन्दी काव्य में रहस्यवाद," "आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद," "आदिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ," आदि।

**कलानुसंधान**—शैलीगत अध्ययन के अन्तर्गत किसी साहित्यिक कृति की अभिव्यंजना-कला का विवेचन और उसकी परख करना कलानुसंधान है। साहित्य में शैली का ही दूसरा नाम अभिव्यंजना-कला है। अभिव्यंजना-कला के कई अंग अथवा उपकरण हैं, जैसे छन्द, अलंकार, लय, संगीतात्मकता, चित्रमयता, शब्द की वृत्तियाँ आदि। कविता, नाटक, उपन्यास, आदि सभी काव्य-रूपों में अभिव्यंजना-कला के एक या अनेक उपकरणों का भाव और विचार की सुबोधता और उत्कर्ष-वृद्धि के लिये उपयोग होता है। कलानुसंधान-वर्ग के प्रबन्धों में शैलीगत कला के किसी एक उपकरण का, किसी एक काव्य-कृति के आधार पर, अथवा अनेक काव्य-कृतियों के आधार पर अध्ययन होता है। आजकल काव्य-कला की स्वरूप-धारणा भारतीय और पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं अथवा काव्य-सिद्धान्तों के अनुसार प्रचलित है। किसी काव्य-कृति का अध्ययन उक्त दोनों विचारधाराओं में से किसी एक के आधार से अथवा दोनों के तुलना-

त्मक आधार[सि हो सकता है । हिन्दी में काव्य-शास्त्र और काव्यादर्श की सुस्पष्ट अपनी निजी स्वरूप-धारणा निर्धारित नहीं हुई है । बहुधा परम्परागत संस्कृत के काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का हिन्दी-संसार में अनुगमन होता है । इसके साथ कुछ अँग्रेज़ी तथा पाश्चात्य आलोचना-पद्धति का भी सम्मिश्रण हो गया है। कलानुसंधान एक प्रकार से काव्य-शास्त्रीय अध्ययन है क्योंकि इनमें काव्य-शास्त्र के उपकरणों के शास्त्रीय आधार पर काव्य-कृतियों का अध्ययन होता है। प्राचीन आचार्यों के आलोचना अथवा काव्यशास्त्र-सिद्धान्तों के प्रकाश में भी कृतियों का अध्ययन हो सकता है और काव्य-कृतियों के आधार से नये सिद्धान्तों का निर्धारण भी हो सकता है । शैलीगत कलानुसंधान के हिन्दी में कई थीसिस लिखे गए हैं—जैसे डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का, 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' तथा डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका में देव का अध्ययन', 'हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास,' 'आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प-विधि का विकास ।'

**भाषानुसंधान**—साहित्य के मुख्य अंगों अथवा तत्त्वों में एक तत्त्व भाषा है। भाषा भाव और विचारों की वाहक होती है और अभिव्यंजना-कला का आधार-क्षेत्र है । भाषानुसंधान के कई रूप हैं । किसी साहित्यिक कृति में प्रयुक्त भाषा का व्याकरण की दृष्टि से, भाषाशास्त्र की दृष्टि से, सांस्कृतिक दृष्टि से तथा भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की दृष्टि से अथवा उक्त अनेक विधियों के मिश्रित दृष्टिकोणों से अध्ययन हो सकता है । साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त बोलियों में मौखिक रूप में प्रयुक्त भाषा की शक्ति का स्वतन्त्र अध्ययन भी हो सकता है । बोलियों के भाषा-वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक दोनों प्रकार के अध्ययन हो सकते हैं । बोलियों के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन शास्त्रानुसंधान कोटि में भी रखे जा सकते हैं । इसमें किसी भाषा या बोली के शब्दों की ध्वनि, उनके अर्थ-परिवर्तन उसके वाक्य-विन्यास आदि पर भाषा-शास्त्र के अनुसार अध्ययन होता है। भाषाध्ययन की वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं ।

भाषा से सम्बन्धित अध्ययन कवियों की देशी-विदेशी शब्द-सम्पन्नता, उनकी भाषा की भाव-व्यंजना-शक्ति, जिसमें भाषा की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना-शक्ति सम्मिलित हैं, आदि कई दृष्टियों से होता है । काव्य-कृति की भाषा में, अथवा विविध बोलियों में प्रचलित सांस्कृतिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा कला-सम्बन्धी शब्दावली का संकलन और विवेचन भी इसके अन्तर्गत हो सकता है । बोलियों के अथवा काव्य-कृतियों के इस प्रकार के तुलनात्मक

अनुसंधान भी हो सकते हैं। भाषा-शब्दकोष की समृद्धि के लिए इस प्रकार के भाषाध्ययन बहुत उपयोगी हैं। इस प्रकार के हिन्दी में कई अध्ययन हुए हैं। जैसे :—'सूर की भाषा'—डा० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ। 'तुलसी की भाषा' डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, लखनऊ। 'रासो की भाषा'—डा० नामवरसिंह, काशी। इस प्रकार के अध्ययन काव्य-कृतियों से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त 'अवधी भाषा का विकास', 'ब्रजभाषा का अध्ययन' 'भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन', 'भोजपुरी का 'विकास' 'हिन्दी अर्थ विचार', 'आज़मगढ़ ज़िले की ग्रामोद्योग शब्दावली', 'अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली' आदि अध्ययन कुछ भाषानुसंधान कोटि के होते हुए भी शास्त्रानुसंधान और ऐतिहासिक अनुसंधान से भी सम्बन्धित है।

**पाठानुसंधान**—भाषा से सम्बन्धित किसी काव्य-कृति के पाठ का निर्णय और उसका सुसम्पादन-कार्य भी अनुसंधान का एक मौलिक प्रकार है। सभी प्रकार के साहित्यिक अध्ययनों के लिये आलोच्य कृति के सुनिश्चित पाठ का उपलब्ध होना परमावश्यक है। हिन्दी में बहुत-से ऐसे महान कवि हैं जिनके निश्चित प्रामाणिक पाठ के बिना उनकी भाषादि का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं हो सका है। किसी पुस्तक की केवल एक प्रतिलिपि के आधार पर पुस्तक का पाठ तैयार कर देना मौलिक अनुसंधान नहीं है। पुस्तक के कई पाठ उपलब्ध होने चाहिए। उनके मिलान से एक प्रामाणिक पाठ निर्धारित किया जा सकता है।

पाठ-सम्पादन की कई प्रणालियाँ हैं। किसी प्राचीनतम प्रति का पाठ देकर, फुटनोट में भिन्न-भिन्न समय और स्थानों की प्रतियों के पाठान्तर देने की एक प्रणाली है। एक दूसरी प्रणाली में सम्पादक पाठान्तर देने के साथ-साथ अपने अध्ययन के आधार पर सब पाठों को मिलाकर और उनमें से लेखक के मनोनुकूल अर्थ वाले पाठ को छाँटकर एक पाठ, विद्यमान पाठों के आधार पर ही, निर्णीत करता है। कुछ सम्पादक अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार प्रतिलिपियों के पाठ को छोड़कर कुछ शब्दों का अथवा वाक्यों का अपना ही नया पाठ गढ़ देते हैं। इस प्रकार की प्रणाली सम्पादक की रुचि पर आधारित होने के कारण वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। वैसे सावधानी से गढ़े हुए पाठ कभी-कभी अर्थाकलन में उपयुक्त भी सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु यह नियम नहीं है। नन्ददास के ग्रंथों की छपी और उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रयाग-विश्वविद्यालय से सुसम्पादित 'नन्ददास ग्रन्थावली' प्रकाशित हुई है। उसमें सिद्धान्त पंचाध्यायी की एक पंक्ति के पाठ का अर्थ मुझसे ठीक-ठीक नहीं बैठा।

वह पंक्ति है 'सब रस को निर्तास रास रस कहिये सोई'। 'निर्तास' शब्द का अर्थ मैंने कोशों में देखा, उनमें नहीं मिला। इसी शब्द से मिलता हुआ एक शब्द-कोश में है 'निर्यास' जिसका अर्थ है 'सार' या 'निचोड़'। यदि 'निर्तास' के स्थान पर 'निर्यास' शब्द बदल दिया जाय तो अर्थ की संगति ठीक बैठ जाती है। 'गोपी कृष्ण रास का रस सब रसों का सार है'। लेकिन जैसा कि हमने अभी कहा, यह प्रणाली वैज्ञानिक नहीं है।

सम्पादन-कार्य में सम्पादक को, विषय का विद्वान होने के साथ-साथ भाषा का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिये। भाषा का व्याकरण, उसकी मौखिक परंपरा और भाषा की प्रचलित सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का ज्ञान उसके लिये परमावश्यक है। एक अवधी की कृति का सम्पादन ब्रज-बोली का विद्वान उतना अच्छा नहीं कर सकता जितना एक अवधी-भाषी व्यक्ति कर सकता है। हस्तलिखित अथवा छपी पुस्तकों की सूची अथवा तालिका मात्र तैयार कर देना एक यांत्रिक कार्य है। इसको अनुसंधान कोटि में नहीं रखा जा सकता। परन्तु यदि किसी कृति में किसी बड़े पुस्तकालय की पुस्तकों का विषयानुसार मौलिक ढंग का वर्गीकरण करके उनका विवरणात्मक परिचय देकर तालिका तैयार की गई है तो यह कृति भी, मेरी समझ में, अनुसंधान की कोटि में आ जानी चाहिये।

पाठानुसंधान-कार्य हिन्दी में कम हुआ है। डा० लक्ष्मीधर जी का 'मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत का सटिप्पण सम्पादन' थीसिस पाठानुसंधान का उदाहरण है। पद्मावत का एक पाठ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने भी प्रस्तुत किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय में डा० माताप्रसाद गुप्त इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

**ऐतिहासिक अनुसंधान**—इस प्रकार के अनुसंधान के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथा पौराणिक तथ्यों का अनुसंधान होता है। ऐतिहासिक तथ्यों का सम्बन्ध किसी घटना, किसी देश, समाज तथा देश और समाज की सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति, लेखक अथवा आश्रयदाता संरक्षक की जीवनी अथवा किसी भावात्मक और विचारात्मक परम्परा के विकास से होता है। ये सभी ऐतिहासिक तथ्य साहित्यिक कृतियों में देखे जा सकते हैं। किसी एक लेख के पूर्वापर तथा समकालीन समय, समाज और उसकी जीवनी के परिचय उसी की कृतियों से संकलित किये जा सकते हैं और उस लेखक के समकालीन तथा परवर्ती अन्य प्रमाणों से भी जाने जा सकते हैं। पहले प्रमाण 'अन्तर्साक्ष्य' और दूसरे 'बहिर्साक्ष्य' बहुधा कहलाते हैं। 'बहिर्साक्ष्य' के अन्तर्गत ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रलेख, पट्टे-परवाने आदि अनेक पुराने लेख सम्मिलित हैं। किसी काव्य-

कृति में ऐतिहासिक तथ्यों का विवरणात्मक आकलन तथा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर काव्य-कृति का अध्ययन ये दोनों ही अध्ययन ऐतिहासिक अनुसंधान के प्रकार हैं। किसी काव्य-कृति में कितना इतिहास है और कितनी कल्पना है, इसका निर्णय भी इस अध्ययन का ध्येय है। किसी काव्य-कृति की विचार-परम्परा, भाव-परम्परा, भाषा-शैली, आदि का अध्ययन ऐतिहासिक और विकास-क्रम की दृष्टि से भी हो सकता है। हिन्दी में इस प्रकार के अनुसन्धान-कार्य काफ़ी हुए हैं। जैसे :—

डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' तथा 'हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका'

डा० श्री कृष्णलाल का 'आधुनिक साहित्य का विकास'

डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास'

डा० जानकीनाथ सिंह का 'हिन्दी छन्द-शास्त्र'

डा० रामरतन भटनागर का 'हिन्दी के समाचारपत्रों का इतिहास'

डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'

डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास'

आदि कार्य ऐतिहासिक अनुसंधान के प्रकार हैं।

अनुसंधानात्मक अथवा गवेषणात्मक कृति की सर्वमान्य विशिष्टताए दो हैं :—

१. मौलिक तथ्यों का उद्घाटन

अथवा

२. ज्ञात तथ्यों की मौलिक एवं नवीन व्याख्या।

इस प्रकार समस्त अनुसंधान कृतियों की ये दो कोटियाँ हो जाती हैं।

(i) **तथ्यानुसंधान या तथ्य-प्रधान अनुसंधान**—जिन अनुसंधान-कृतियों में मौलिक तथ्यों को खोजकर निकाला गया है और जिनमें उनकी ही प्रधानता है उन्हें हम तथ्यानुसंधान के अन्तर्गत रख सकते हैं। तथ्य का तात्पर्य केवल ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। तथ्यों का सम्बन्ध प्राकृतिक पदार्थ, गुण, जाति, भाषा, भाव, विचार-प्रवृत्ति, व्यक्ति आदि सभी से है। प्रच्छन्न ज्ञान का उद्घाटन तथ्य-प्रकाशन है।

(ii) **व्याख्यात्मक अनुसंधान या व्याख्या-प्रधान अनुसंधान**—विद्यमान ज्ञान की बुद्धिसंगत विवेचना तथा तथ्यों का निरूपण और प्रयोग व्याख्या है। इस प्रकार जितने भी विवेचनात्मक और आलोचनात्मक मौलिक अध्ययन होते

है, चाहे वे पीछे कहीं किसी भी कोटि के हों, उन्हें व्याख्यात्मक अनुसंधान कहा जा सकता है। हिन्दी की अनेक अनुसंधान-कृतियाँ तथ्य और व्याख्या दोनों की मिश्रित कृतियाँ हैं—

जैसे 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'
'आचार्य केशवदास
'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य'
'आचार्य कवि मतिराम'
'आचार्य भिखारी दास'
'हिन्दी वीर काव्य'
'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन'।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

# विषय-निर्वाचन—(१)

**प्राक्कथन**—विषय-निर्वाचन शब्द का प्रयोग यहाँ हम एक सीमित भूमिका में कर रहे हैं। हमारी पहली सीमा हिन्दी साहित्य और भाषा-संबंधी अनुसंधान-क्षेत्र की है, जिसके बाहर जाने का हमें अधिकार नहीं। दूसरी सीमा इस बात से अनुशासित है कि अब तक इस क्षेत्र में कितना कार्य हो चुका है। हम यह भी देखना चाहेंगे कि वह कार्य किस कोटि का है, उसकी पद्धति क्या है, एवं उसकी विवेचन-शैली आदि किस प्रकार की है। कहीं वह विवेचन आधुनिक जिज्ञासा से दूर तो नहीं चला गया अथवा उसकी शैली और शब्दावली असामयिक तो नहीं हो गई। यदि विवेचन में कुछ मौलिक न्यूनताएँ हैं, तो भी उन्हें नवीन विषयों के रूप में लिया जा सकता है। प्रत्येक अवसर पर हम यह नहीं कह सकते कि अमुक विषय शोध के लिए पुराना हो गया है। जिन विषयों पर कार्य हो चुका है उन पर तभी कार्य आगे बढ़ाया जा सकता है जब कि योग्य पर्यवेक्षक और अनुरूप शोध-छात्र का युग्म तैयार हो सके। हमारी तीसरी सीमा यह है कि हम चिरकाल के लिए विषय-निर्वाचन की समस्या पर विचार नहीं कर सकते। विषय-निर्वाचन को हमें व्यावहारिक रूप भी देना है। इसके लिए हम लगभग पाँच वर्षों की सीमा निर्धारित कर रहे हैं। इस समय भारत में हिन्दी-अनुशीलन का कार्य लगभग दस-बारह विश्वविद्यालयों में हो रहा है। प्रत्येक विश्वविद्यालय में यदि तीन पर्यवेक्षक पर्यवेक्षण की योग्यता से सम्पन्न हैं तो कुल ३० या ३५ पर्यवेक्षक मानने चाहिएँ। पाँच वर्षों के अन्तर्गत यदि वे ढाई-ढाई वर्ष की अवधि में पाँच-पाँच छात्रों को शोध के लिए सन्नद्ध कर सकें तो इस प्रकार तीन सौ छात्र आगामी पाँच वर्षों में विषय-निर्वाचन की परिधि

में आ जाते हैं। अधिक से अधिक हम इतने ही विषयों की ओर दृष्टिपात कर सकते हैं।

**विषय-प्रवेश**—प्रायः देखा जाता है कि अनुशीलन का कार्य साहित्य के क्षेत्र में अधिक हो रहा है। भाषा-सम्बन्धी कार्य अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है। हम चाहते हैं कि दोनों में संतुलन आ सके। अतएव भाषा-सम्बन्धी विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए यद्यपि इस दिशा की कठिनाई भी प्रत्यक्ष है। विश्वविद्यालयों के अधिकांश पर्यवेक्षक भाषा-विशेषज्ञता की उस सीमा, धरातल अथवा उत्कर्ष तक नहीं पहुँचे होते जो अपेक्षित हैं। यह एक व्यावहारिक कठिनाई है जो विस्मृत नहीं की जा सकती। विषय-निर्वाचन का प्रश्न उन पर्यवेक्षकों से भी अनुसीमित है जो इस समय हमें उपलब्ध हैं।

**इतिहास के अँधेरे पृष्ठ और पाठानुशीलन**—आरम्भिक अनुसंधान के लिए हिन्दी साहित्य के कतिपय अँधेरे या अर्द्ध-अँधेरे क्षेत्र दिखाई देते हैं जिन पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ा है। मुख्यतः यह इतिहास से संबंधित विषय हैं। इनमें पाठ-शोधन, काल-निर्धारण और जीवनी-निर्माण का शीर्ष महत्त्व है। अनेक महत्वपूर्ण कवियों और रचनाओं का काल-निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। इसके कारण साहित्य के अध्ययन और इतिहास के निर्माण में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। आवश्यकता यह है कि इन अनुन्मीलित या अर्द्धोन्मीलित स्थलों की खोज की जाय और कवियों की रचनाएँ, उनका काल तथा उनकी सम्पूर्ण जीवनी प्रकाश में लाई जाय। यह कार्य बहुत कुछ ऐसा है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने जायसी के सम्बन्ध में किया था। यदि हिन्दी के ऐसे अज्ञात अथवा अर्द्ध-ज्ञात कवियों और ग्रन्थों का अनुसंधान कर उन पर एक-एक मौलिक प्रबन्ध लिखा जा सके तो इतिहास की सीमा का विस्तार होगा। इसी से संबंधित पाठानुशीलन भी है। आधुनिक हिन्दी अनुशीलन के क्षेत्र में इसका महत्त्व क्रमशः बढ़ता जा रहा है। इतिहास के अँधेरे पृष्ठों के उद्घाटन में यह अनुशीलन एक दृष्टि से अति आवश्यक है। ग्रन्थों के मुख्य पाठ के निर्धारण के पश्चात् ही उनका अध्ययन, अनुशीलन उचित होगा। मुख्य पाठ का निर्धारण एक ओर जहाँ साहित्यिक अनुशीलन से सम्बद्ध है वहीं वह भाषा-सम्बन्धी अनुशीलन का भी उर्वर क्षेत्र है। इससे दोनों क्षेत्र लाभान्वित होंगे। हम जानते हैं कि यह दोनों कार्य परिश्रम और पर्यटन-सापेक्ष्य हैं। इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित संख्या अथवा परिमाण की पूर्व-योजना नहीं की जा सकती, परन्तु यह एक आवश्यक शोध का क्षेत्र है।

**कवि-जीवनी तथा सामाजिक परिपार्श्व**—कवि-जीवनी भी आज के शोध-

कार्य के लिए अत्यावश्यक विषय है। आज न केवल प्राचीन कवियों की जीवनी अनिर्मित हैं, वरन् आधुनिक युग के कवियों के सम्पूर्ण जीवन पर भी ग्रन्थों की संख्या अपर्याप्त है। इस दिशा में हम प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में यदि अधिक कार्य न भी करा सकें, तो कम-से-कम पिछले सौ वर्षों के साहित्यिकों की जीवनी के निर्माण की दिशा में उद्योग किया जा सकता है। अब तक हिन्दी साहित्य में जीवनियों को प्रस्तुत करने का कार्य बहुत कुछ एकांगी रहा है। जीवनी-लेखन की नयी दिशा ऐसी हो जिसमें वास्तविक जीवनी के अन्तर्गत कवि या लेखक की सच्ची जीवन-घटनाओं का क्रमबद्ध निदर्शन किया जा सके, उसके निजी और सामाजिक जीवन पर प्रकाश डाला जा सके। यदि हम भारतेन्दु-युग के दस, द्विवेदी-युग के तीस और वर्तमान युग के पचास लेखकों की जीवनियों का अनुसंधान करा सकें तो एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। इन विस्तृत जीवनियों के साथ लेखक की रचनाओं का क्रमिक विकास भी प्रबन्ध के अन्तर्गत ही दिखाया जा सकता है। वर्तमान समय में प्रबन्ध-लेखन की एक पद्धति बनती जा रही है कि सामाजिक पृष्ठभूमि के रूप में राजनीतिक, सामाजिक आदि घटनाओं का उल्लेख भर कर दिया जाता है परन्तु इतने से ही कवि के व्यक्तित्व की धारणा नहीं बनती। जीवनी का उद्घाटन होने पर उक्त सामाजिक पृष्ठभूमि भी अधिक अर्थ प्राप्त करेगी। विशेष अवसर पर विशेष घटनाएँ कवि को किस प्रकार प्रभावित कर सकी हैं, इसका अधिक यथार्थ परिचय होना चाहिए। रचनाओं के क्रमिक विकास के साथ तीसरा उपक्रम कवि की विचारधारा, उसका जीवन और साहित्य-सम्बन्धी विचार और दृष्टिकोण है। इसे भी जीवनी वाले अंश के साथ ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि-जीवनी, सामाजिक पृष्ठभूमि, कृतियों का क्रमिक विकास, कवि की विचारधारा और दृष्टिकोण का एक समग्र प्रामाणिक संचयन हमारे अनुसंधान की नींव है जिस पर आगे साहित्यिक अनुशीलन का कार्य किया जा सकता है। प्रायः देखा जाता है कि हमारा अनुशीलन-कार्य पुस्तकालयों में बैठकर ही सम्पूर्ण हो जाता है। मूल तथ्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। इस कारण हमारा अनुसंधान बहुत-कुछ कोरा साहित्यिक हो जाता है। उसमें जीवन-रस का संचार नहीं होता। इस दिशा में यदि कुछ आगे बढ़ना है तो इस कार्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

**कृतियों का अनुशीलन**—कृतियों के अनुशीलन के साथ प्रायः भूमिका-रूप में या प्रसंगतः कवि की संक्षिप्त जीवनी जोड़ दी जाती है परन्तु मेरा सुझाव है कि कृतियों का अनुशीलन स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए। कृतियों से मेरा आशय

किसी कवि या लेखक के संपूर्ण कृतित्व से है। इस अनुशीलन में साहित्यिक आधार की प्रमुखता अपेक्षित है अर्थात् यहाँ हम कवि या लेखक की शैली, भाषा-सृष्टि, उसकी भावधाराओं और कला तथा शिल्पगत अन्य उपकरणों का अनुशीलन करें। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे प्रबंधों में पृष्ठभूमि या अन्य स्फुट तत्त्व भी संयोजित हों। अभी तक हमारे साहित्यिक अनुशीलनों में पर्याप्त गहराई नहीं आई है। इसका कारण भी अन्य प्रासंगिक-अप्रासंगिक विषयों का प्रबंध के साथ संयुक्त हो जाना है। हिन्दी साहित्य की विशाल भूमि पर अनुसंधेय लेखक या कवि का क्या वैशिष्ट्य है, बहुत ही प्रमुखता के साथ स्पष्ट किया जाना चाहिए। सम्प्रति हम कवियों या लेखकों पर प्रबन्ध लिख डालते हैं, परंतु कवि या लेखक की इकाई और वैशिष्ट्य अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत नहीं हो पाता जो उसकी साहित्यिक सर्जना की केन्द्रीय वस्तु या आधार तत्त्व है। कृतियों में आए हुए भाव-पक्ष और विचार-पक्ष की तो थोड़ी बहुत मीमांसा प्रबन्धों में हो जाती है, किन्तु साहित्यिक सौष्ठव, कला, शिल्प और भाषागत साधना की पर्याप्त विवेचना नहीं हो पाती। इस दिशा की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक होगा।

**तुलनात्मक अध्ययन**—जब किसी कवि या लेखक पर अनुशीलन-कार्य होता है तो उसके ही कृतित्व को आदि से अंत तक विवेचन का विषय बनाया जाता है। उसके समकालीन अन्य लेखकों या कवियों को, जिनका वह स्वयं पर्यवेक्षण करता है, जिनके सहयोग से ही उसकी कृतियों का निर्माण होता है, ध्यान में नहीं रखा जाता। किसी भी लेखक या कवि की साहित्य-समीक्षा और साहित्यिक अध्ययन उसके पार्श्ववर्ती लेखक या कवियों के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतएव मेरा सुझाव है कि प्रबन्ध में लेखक या कवि का विवेचन समकालीन लेखकों, कवियों की तुलनात्मक विशेषता को ध्यान में रखकर किया जाय। उनके सूक्ष्म भेदों और वैशिष्टयों को पहचानना, विवेच्य लेखक की अपनी कला पर अधिक विशिष्ट प्रकाश डालना और तुलनात्मक परिपार्श्व में स्पष्ट विशेषताएँ दिखाना साहित्यिक अभिज्ञान की वृद्धि करना है। यह तुलना केवल हिन्दी के समकालीन कवियों तक सीमित रहे यह आवश्यक नहीं। अनेक लेखक और कवि बहुभाषा-विज्ञ होते हैं। उन पर दूसरी भाषाओं के लेखकों की छाया भी पड़ती है, अतएव जहाँ कहीं ऐसे अवसर आयें दूसरी भाषाओं के समान-धर्मी लेखकों से भी तुलना का कार्य किया जाना चाहिए। यह तुलनात्मक अध्ययन केवल औपचारिक न हो, न ही प्रबन्ध के निष्कर्ष के रूप में, वरन् यह प्रबन्ध का समग्र अंग हो। निष्कर्ष में तो हम केवल वैशिष्ट्य और मूल्य का उल्लेख कर सकते हैं।

**युग की काव्य-प्रवृत्तियों का अध्ययन**—अनेक बार ऐसा होता है कि हम

किसी लेखक या कवि पर अनुसंधान न कर संपूर्ण युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को अनुशीलन का विषय बनाते हैं। ऐसे अवसरों पर 'हमारा शोध-कार्य प्रवृत्तियों की गणना में संलग्न होकर युग-काव्य की मूल चेतना तक नहीं पहुँचता। ऐसे प्रबंधों में सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका का महत्त्व अवश्यम्भावी होता है। यहाँ कवियों की जीवनी और जीवन-घटनाओं का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। इन उपकरणों के साथ ही युग की प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण किया जा सकता है। युग-गत प्रभाव तथा समाज में प्रसारित विचारधाराएँ और साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन आदि युग-काव्य की प्रवृत्तियों के विशिष्ट उपकरण होते हैं। इनका प्रभाव लेखकों पर भिन्न प्रकार से पड़ता है अतएव प्रवृत्तियों का अनुशीलन केवल बाह्य न होकर कवि-सापेक्ष्य होना चाहिए तभी कवि और लेखक की समग्रता के साथ युग-प्रवृत्तियों का निरूपण हो सकता है, उससे विच्छिन्न होकर नहीं। ऐसे प्रबंधों में वर्गीकरण की पद्धति विचारणीय है। प्रायः 'राष्ट्रीयता', 'सामाजिक चेतना, और 'देश-प्रेम' आदि शीर्षक लेकर हम प्रवृत्तियों का विवेचन करने लग जाते हैं और कवियों का उदाहरण देकर उसकी पुष्टि करते हैं। पर यह कार्य बिलकुल भिन्न और विपरीत दिशा से आरम्भ होना चाहिए। उस काल के प्रमुख कलाकारों, साहित्यकारों को मूल में रखकर युग की प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है। एक ही युग में पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियाँ लेखकों और कवियों में मिलती हैं। ऐसी स्थिति में यदि लेखकों और कवियों को मूल में न रखा जाय तो युग-प्रवृत्तियों का आलेख भ्रामक हो सकता है। अब यहीं तुलना की भूमि भी आती है। अनेक बार युग-प्रवृत्तियों के निरूपक प्रबंधों में तुलनात्मक भूमियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए छायावाद युग की प्रवृत्तियों से पश्चिमी रोमांटिसिज्म की तुलना की जाती है। इसी प्रकार अन्य तुलना की भूमियाँ भी प्रस्तुत होती हैं। स्पष्ट ही यह अनुसंधान का बड़ा ही स्थूल रूप है। मूलभूत परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय परम्परा का ध्यान रखे बिना इस प्रकार की तुलनाएँ हमें सत्य की खोज में बहुत दूर नहीं ले जा सकतीं। अतएव इस क्षेत्र में तुलना की भूमि अधिक परम्परा-पोषित और सतर्क होनी चाहिए।

**काव्य-रूपों का अध्ययन**—सम्प्रति काव्य-रूपों की संख्या भी क्रमशः बढ़ती जा रही है। नये काव्य-रूप हिन्दी में विकसित हो रहे हैं। काव्य-रूपों से यहाँ हमारा तात्पर्य साहित्य के समस्त रूपों से है। महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, वर्णनात्मक कृतियाँ, प्रगीत, मुक्तक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटकों के विविध भेद स्वतंत्र काव्य-रूप हैं। इनकी क्रमिक प्रगति और विकास-भूमियों

का अनुशीलन भी आवश्यक है। इस दिशा में भी प्राप्त प्रबन्धों में कुछ न्यूनताएँ हैं। सामान्यत: लेखक की कृतियों का परिचय दे दिया जाता है और अधिक से अधिक उनके कथा-भाग और आख्यान की समीक्षा हो जाती है। परंतु हमारी दृष्टि में काव्य-रूपों का स्वतंत्र और समग्र अध्ययन अपेक्षित है। एकाधिक वस्तुओं को मिलाकर जो अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है वह साहित्यिक विवेक और कला-समीक्षा के उपयुक्त नहीं होता। ऐसा अध्ययन समग्र और पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। अनेक बार प्रबन्धों के शीर्षक तो काव्य-रूपों से सम्बंधित होते हैं और काव्य-शिल्प के विज्ञापक होते हैं, परंतु विवेचन और निरूपण में काव्य-रूपों की प्रगति उनका विकास, उनका रूप-परिवर्तन और शिल्प-योजना का सम्यक् परिचय नहीं मिल पाता। इस अध्ययन को विशिष्टता देने के लिये मेरा सुझाव है कि केवल आकृति के विभिन्न प्रयोगों और परिवर्तनों पर दृष्टि-पात किया जाय।

**वादों तथा सम्प्रदायों का अध्ययन**—काव्य-रूपों का अध्ययन कला-पक्ष से सम्बंधित है और वादों का अध्ययन भाव-पक्ष से। वाद साहित्यिक भी होते हैं, वैचारिक भी और दार्शनिक भी। अतएव वादों का अध्ययन करते समय प्रत्येक वाद की स्थिति और उसकी मूल प्रतिपत्तियाँ दार्शनिक हैं अथवा सामाजिक या साहित्यिक, यह भी जान लेना चाहिये। हमें विशुद्ध दार्शनिक और सामाजिक तथा राजनीतिक वादों के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहना है। परंतु उन वादों ने यदि साहित्य-सृजन को नयी दिशाएँ दी हैं, साहित्य-आकलन के नये रास्ते सुझाये हैं तो उसी रूप में इन वादों का अध्ययन साहित्य की सीमा में हो सकता है। इनके अध्ययन में भी अपनी क्रमागत साहित्य-परम्परा का एवं प्राचीन सिद्धान्तों का ध्यान रखना होगा। क्रमागत साहित्य-विचारणा में ये नये वाद किस सीमा तक संग्रथित हो सकते हैं। नवीनता उनमें कौन-सी है और परम्परा से उनका संयोग किस रूप में किया जा सकता है; आदि तथ्यों का परीक्षण भी अत्यावश्यक है। यदि साहित्य किसी सीमित वाद की भूमि में चला गया है तो उससे साहित्य-निर्माण में किस प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, कौन-से प्रतिबन्ध लग जाते हैं आदि प्रश्नों के साथ साहित्य के तत्त्वों की पूरी छानबीन वादों और सम्प्रदायों के अध्ययन में आवश्यक है। किसी वाद की सीमा में निर्मित साहित्य उन वादों का कहाँ तक अतिक्रमण कर सका है, अथवा किस प्रकार वाद की सीमा में साहित्य घिर गया है आदि विषयों के अनुशीलन द्वारा साहित्य की विकासमान गति पर प्रकाश पड़ सकता है। कौन-से वाद केवल प्रतिक्रिया के द्योतक हैं और कौन-से वाद साहित्य-उन्नयन की

सम्भावना लेकर आये हैं इन सबकी विवेचना इस सन्दर्भ में अनिवार्य हो जाती है।

**सैद्धान्तिक अनुशीलन**—भारतीय साहित्य और शास्त्र अतिशय समृद्ध और सर्वांगीण रहा है। उसकी विभिन्न विकास-दिशाओं का सम्यक् अनुशीलन आज अपेक्षित है। साहित्य-सिद्धान्तों का अध्ययन दो आधारों पर किया जा सकता है। पहला आधार ऐतिहासिक है। किसी सिद्धान्त का आरम्भ कब हुआ, क्रमशः उसमें नये तत्त्व किस प्रकार संयुक्त हुये, पंडितों ने उसमें कितना और किस सीमा तक परिष्कार किया, कहाँ उसे विकृत करने के उद्योग हुये—यह सब ऐतिहासिक अनुसंधान द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दिशा में दूसरा आधार सिद्धान्त-विशेष के विभिन्न पक्षों के समग्र और तात्त्विक अध्ययन का है। इतिहास को छोड़ देने पर भी सिद्धान्त-विशेष का मौलिक स्वरूप क्या है, उसके सहयोगी उपकरण क्या हैं, उसकी साहित्यिक क्षमता क्या, कैसी तथा कितनी है, नवीन परिपार्श्व में उसके विकास की कौन-सी योग्यताएँ हैं आदि प्रश्न सैद्धान्तिक विवेचन से जुड़े हुये हैं। इस क्षेत्र में अनेक बार ऐसी चेष्टाएँ की गई हैं जिसमें प्राचीन-प्रियता का बहुत अधिक हाथ रहा है। हम ऐसा समझने लगते हैं कि हमारे देश का सिद्धान्त-विशेष किसी संशोधन की अपेक्षा नहीं करता। वह स्वयं सम्पूर्ण था या है। नवीन ज्ञान के आलोक से हमें इन संकीर्ण धारणाओं को अलग रखना होगा। उन्हें अलग रखकर ही विचार करना होगा। सिद्धान्तों के निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग भी आज अपेक्षित हो गया है। प्राचीन सिद्धान्तों की व्याख्या प्राचीन शब्दावली के आधार पर करने से नये शास्त्र-जिज्ञासुओं को लाभ नहीं होता। अतएव इस दिशा में हमें आधुनिक ज्ञान और आधुनिक सिद्धान्त-विवेचन की शैली का प्रयोग करना होगा। भारतीय साहित्य की विशेष प्रवृत्तियों को लेकर अनेक प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक बार विशिष्ट सम्प्रदायों का सम्पूर्ण इतिवृत्त और विकास-क्रम प्राप्त हो जाने पर उनका तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है। शब्द-शक्ति के प्रकरण से प्रारम्भ कर रस-सिद्धान्त के वैज्ञानिक और दार्शनिक पक्षों का स्पर्श करते हुये प्रायः एक दर्जन प्रबन्ध आगामी पाँच वर्षों में प्रस्तुत किये जा सकें, तो साहित्य-चिन्तन की दिशा में आकांक्षित सामग्री एकत्र हो सकती है।

**भाषा-सम्बन्धी मौलिक शोध**—भाषा-सम्बन्धी शोध का कार्य शब्दानुशीलन या शब्दानुशासन पर ही संस्थित हो सकता है क्योंकि शब्द या शब्द-तत्त्व से ही भाषा की रूप-रचना होती है, उसके विभिन्न अवयवों का निर्माण होता है। इस

निमित्त सर्वप्रथम हिन्दी के तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव, अर्द्धतद्भव, एवं देशज शब्दों का अनुशीलन आवश्यक है जिससे हिन्दी की मूल शब्दावली, मिश्रित शब्द-समूह आदि का ठीक-ठीक अध्ययन हो सके। वर्तमान समय में हमारे देश की एक बड़ी आवश्यकता ऐसे शब्दों के संग्रह की है जो हमारे राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रहे हैं परन्तु वे साहित्यिकों की जानकारी के बाहर हैं। प्राचीन काल से अब तक अपने देश में इतने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधे, कला, व्यापार, पेशे आदि विकसित हुए हैं कि उन सबमें प्रचलित शब्दों का संग्रह आज की एक बड़ी आवश्यकता है। विभिन्न प्रांतों में इन समस्त उद्योग-धंधों एवं पेशों के लोग भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से अन्तःप्रांतीय औद्योगिक शब्दकोष की अतिशय आवश्यकता है। इस कार्य के सम्पादनार्थ विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों की कृषक तथा औद्योगिक जीवन-संबंधी पदावली का अनुशीलन सर्वप्रथम होना चाहिए। श्री राहुल जी ने इस दिशा में शब्दकोष-निर्माण संबंधी कार्य का सूत्रपात किया था और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में इस प्रकार का एक कोष तैयार भी हुआ था। लोक-भाषाओं एवं साहित्यिक भाषाओं का शब्द-संग्रह; लोकोक्तियों, मुहावरों, कहावतों का संकलन, लोकगीतों में प्रयुक्त सांस्कृतिक शब्दों का संचय तथा अनुशीलन भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार के कार्य को यथोचित रीति से सम्पादित करने पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों को वैज्ञानिक ढंग से निर्मित करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इस कार्य में सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिए आदिम जातियों की भाषा का अध्ययन भी आवश्यक है। शब्द-संग्रह के साथ ही शब्दों के रूप-परिवर्तन एवं अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति, प्रकृति, प्रक्रिया, कारण तथा उनकी व्युत्पत्ति की शोध भी संबंधित है। इस दिशा में हिन्दी तथा उसकी उपभाषाओं के विभिन्न पदों जैसे संज्ञाओं, कारकों, परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों, विशेषणों आदि की व्युत्पत्ति का काम हो रहा है। हिन्दी तथा उसकी उप-भाषाओं एवं बोलियों की ध्वनियों का अध्ययन भी आरंभ हो गया है। इस दिशा में भोजपुरी ध्वनियों का डा० विश्वनाथ का तथा लहंदा ध्वनियों पर डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कार्य प्रशंसनीय है। हिन्दी की वाक्य-रचना तथा वाक्य के विभिन्न उपकरणों का अनुशीलन भी हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति एवं प्रकृति के अध्ययन के लिए आवश्यक है। भाषा-संबंधी खोज के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों का ध्यान इस दिशा की ओर भी गया है। इस प्रकार के कार्य को समुचित रूप से संपादित करने पर हिन्दी की बनावट एवं प्रकृति का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा। हिन्दी की प्रवृत्ति समझने के लिए उसकी पूर्वज भाषाओं पर अनुशीलन

आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। हिन्दी के भाषा-मर्मज्ञों का ध्यान भी इस दिशा की ओर जाना चाहिए। हिन्दी भाषा का संपर्क अंग्रेज़ी, फारसी, अरबी, द्रविड़ आदि अनेक सजातीय एवं विजातीय भाषाओं से हुआ है। इससे उसके रूप तथा व्यवहार में जो परिवर्तन हुए हैं उनका अध्ययन भी आवश्यक है। हिन्दी पर अन्य प्रांतीय भाषाओं के प्रभाव का अनुशीलन और उसके परिवर्तन का अध्ययन भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षित है। हिन्दी भाषा की संबंध-व्याप्ति स्वरूपगत अंतर के सम्यक् बोध के लिए भी हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओं का स्वतंत्र एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। लोक-संस्कृति के उपादानों के अभिज्ञान के लिए भी हिन्दी की विभाषाओं एवं जनपदीय बोलियों का अध्ययन अपनी अलग महत्ता रखता है। हिन्दी भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति, बनावट, संबंध-व्याप्ति आदि के अनुशीलन के पश्चात् उसके शब्दानुशासन के लिए व्याकरण की समस्या आती है जिस पर विश्वविद्यालयों में अभी बहुत थोड़ा कार्य हुआ है। हिन्दी के वर्णनात्मक व्याकरण तो बहुत लिखे गये हैं पर उनमें वैज्ञानिकता तथा शोध-वृत्ति की कमी है। ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक कमी की पूर्ति के प्रति भाषाविदों का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। इसके पश्चात् भाषा-विज्ञान का सैद्धान्तिक पक्ष भी आता है जिस पर हम अधिकतर पश्चिमी शोध पर ही आश्रित रहे हैं। मौलिक शोध-कार्य के लिए इस ओर पर्याप्त अवकाश है। भारतीय भाषाओं के पारस्परिक संबंध के अतिरिक्त विश्व-भाषाओं के पारस्परिक संबंधों की अभिज्ञता भी आज की विश्व-संस्कृति की धारणा और कल्पना के अनुरूप ही है। परन्तु इसके निमित्त अभी वर्षों के अभ्यास की आवश्यकता है। बहुभाषाविज्ञ हमारे देश में धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि होनी चाहिए। यह तब होगा जब विश्वविद्यालयों में अनेक भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन और विविध प्रांतों के विद्यार्थियों का सम्मेलन अब की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक रूप में होने लगेगा। भाषा-संबंधी शोध के अनेक विषय ऐसे हैं जिनके लिए कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। मैंने इस प्रश्न पर एक अविशेषज्ञ के रूप में ही विचार किया है, यदि त्रुटियाँ हों तो मुझे क्षमा किया जाय।

**कुछ स्फुट विषय १. जन-साहित्य का भाषागत तथा साहित्यिक अनुशीलन—** साहित्य-अनुशीलन में उपर्युक्त प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त अन्य कुछ स्फुट विषय भी हमारी दृष्टि में आते हैं। इनमें लोक-संस्कृति के विभिन्न साहित्यिक उपादानों का अध्ययन एक है। विभिन्न प्रदेशों के लोक-साहित्य की समस्त

राशि का संग्रह और प्रकाशन हो जाने पर इस दिशा के अध्ययन का कार्य आगे बढ़ सकता है। सम्प्रति चार-पाँच सौ लोक-गीतों को लेकर अथवा एक हज़ार कहावतों, पहेलियों को लेकर जो प्रबंध प्रस्तुत किये जा रहे हैं, उनसे प्रांतीय संस्कृतियों का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। इस क्षेत्र में सामग्री-संचय पहला कार्य है; तत्पश्चात् प्रबन्ध-लेखन की दिशा में उद्योग किया जा सकता है। प्रांतीय भाषाओं की रूपरेखायें भी अभी स्पष्ट नहीं की जा सकी हैं। साहित्यिक ग्रन्थों में भाषा-प्रयोग प्रान्त की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, जिससे भाषा की प्रान्तीय रूपरेखा का आकलन कठिन हो जाता है। स्वयं तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि बहुभाषी काव्य के स्रष्टा कहे जा सकते हैं। अतएव लोक-संस्कृति के उपादानों के अध्ययन के द्वारा ही प्रांतीय भाषाओं और बोलियों का विशिष्ट स्वरूप उपलब्ध किया जा सकता है। सामान्यतः ऐसे प्रबन्धों में प्रायः प्रदेश की सीमा के बाहर से उपकरणों का भी संग्रह कर लिया जाता है। विशेष और प्रांतनिष्ठ उपादानों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया जाता। लोकोक्तियों, मुहावरों की खोज में अनुसंधाता विभिन्न प्रांतों के मुहावरों को मिला-जुलाकर रख देते हैं। विशिष्ट रूप से प्रांतीय मुहावरों की शोध नहीं हो पाती। इस दिशा में प्रांतीय इकाइयों पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। इसी लोक-संस्कृति से सम्बद्ध जनपदों की सांस्कृतिक सामग्री का निरूपण भी है। परन्तु जनपद शब्द इन दिनों अस्पष्ट अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। यद्यपि जनपद का सम्बन्ध बोलियों-सम्बन्धी इकाई से है परन्तु प्रायः लोग किसी ज़िले को ही जनपद मान लेते हैं। ऐसा करने से साहित्यिक और भाषागत अध्ययन में बाधा उपस्थित होती है।

२. **प्रादेशिक साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन**—हिन्दी का अनुशीलन यदि वस्तुतः राष्ट्रभाषा के स्तर पर पहुँचने का लक्ष्य रखता है तो उसे प्रांतीय या प्रादेशिक भाषाओं की उपेक्षा नहीं करनी होगी। वह समय भी आना चाहिए जब हम हिन्दी काव्य के समसामयिक और समानान्तर प्रादेशिक भाषाओं के काव्यों को भी अनुशीलन का विषय बनायें। विशेषकर ऐसे विश्वविद्यालय जो दो भाषाओं की संधिभूमि पर संस्थित हैं अपनी दोनों सीमाओं पर दृष्टिपात रखते हुए प्रादेशिक भूमि पर तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात करें तो अभीष्ट होगा। सम्प्रति 'बँगला का हिन्दी पर प्रभाव' अथवा 'अंग्रेज़ी समीक्षा का हिन्दी समीक्षा पर प्रभाव' आदि कुछ विषय चुने जाते हैं, परन्तु इस प्रकार का उद्योग अधिक फलदायी नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति की एकता के वे तत्त्व प्रकाश में आने चाहिएँ जो विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों

के माध्यम से मुखर हुए हैं। ऐसे विषयों में सांस्कृतिक एकता और प्रादेशिक विशेषताओं का युगपत् अध्ययन अपेक्षित होगा। विभिन्न प्रादेशिक कवियों के वैशिष्ट्य के विषय में भी ऐसे अध्ययन अपेक्षित हो सकते हैं जो जातीय जीवन की समग्रता को केन्द्र बनाकर किये जायें। केवल स्फुट या परिच्छिन्न रूप में दो कवियों की विशेषताओं के प्रदर्शन का कोई अर्थ नहीं होता। इन सब कार्यों में हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक पक्ष के सामूहिक उद्घाटन का ही हो सकता है। वस्तुत: लोक-संस्कृति और प्रादेशिक संस्कृतियों से सम्बन्धित समस्त अनुशीलन जातीय जीवन की विविधता में एकता का संकेत करने का लक्ष्य ही रख सकता है।

**समाहार**—इस निबन्ध में मैंने विषय-निर्वाचन की संक्षिप्त भूमि न अपनाकर प्रबन्धों की रूपरेखा पर भी विचार व्यक्त किये हैं। वस्तुत: विषय-निर्वाचन भी विषय की रूपरेखा के साथ ही अपना महत्त्व रखता है। उसके अभाव में उसका स्वतंत्र महत्व नहीं रह जाता। उसका औचित्य-अनौचित्य भी इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। विषय से सम्बन्धित प्रक्रिया विषय की रूपरेखा पर अवलम्बित है, अतएव यदि मैं केवल विषय-निर्वाचन की संकीर्ण सीमा का अतिक्रमण कर गया होऊँ तो वह मेरे लिए क्षम्य है क्योंकि मैं दोनों को जुड़ा हुआ मानता हूँ।

विषय-निर्वाचन के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें हिन्दी अनुसंधान की वर्तमान स्थिति को भी ध्यान में रखना पड़ता है और इसीलिए केवल आगामी पाँच वर्षों के लिए सुझाव रखे गए हैं। ज्यों-ज्यों यह कार्य अग्रसर होगा त्यों-त्यों विषय-विस्तार में उसकी सांस्कृतिक उपादेयता और संघात में परिवर्तन होंगे और क्रमशः अधिक विशेषज्ञता से समन्वित शोध प्रारम्भ हो सकेगी। आज जिन विषयों को हम शोध के उपयुक्त नहीं समझते, जिन लेखकों को शोध का विषय बनाना नहीं चाहते, पाँच वर्षों के बाद जब हमारा शोध-कार्य अधिक अंतरंग और सीमित भूमि में रहकर विषय की गहराइयों में जायगा, तब उन्हें भी अपनाना होगा। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जो आज शोध का विषय नहीं है, कल वह विषय बन सकेगा। कारण यह है कि शोध की क्रिया विस्तार से गहनता की ओर होती है। अभी हिन्दी अनुसंधान का कार्य प्रारम्भिक स्थिति में होने के कारण विस्तार-सापेक्ष है। कुछ समय के पश्चात् वह अपनी छोटी सीमाओं के भीतर सूक्ष्म और गहन अनुशीलन के क्षेत्र में प्रवेश करेगा, तब अनेकानेक विषयों की, जो आज उपादेय नहीं हैं, उपादेयता प्रत्यक्ष होने लगेगी। वर्तमान स्थिति को देखते हुए विषय-निर्वाचन के कार्य में हमें दो बातों

का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। एक तो जो ज्ञान स्पष्ट नहीं है, जो अभिज्ञताएँ केवल वायवीय हैं, उन्हें आकार देना। दूसरी, सांस्कृतिक एवं जातीय जीवन में उनकी उपयोगिता का विस्मरण न करना। एक प्रकार से आज का विषय-निर्वाचन उदार सांस्कृतिक धरातल पर होता है, परन्तु समय आ रहा है जब हम अस्पष्ट ज्ञान और वायवीय अभिज्ञताओं को आकार देने की दृष्टि में परिवर्तन करेंगे और विषय की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करते हुए आज की शोध के इन मौलिक उपकरणों को भूल जाने की स्थिति में पहुँच जायेंगे। उस अवसर पर हमें पुनः नये संकेतों और नये परामर्शों की आवश्यकता होगी।

डा० भगीरथ मिश्र—

# विषय-निर्वाचन—(२)

अनुसंधान-कार्य का सबसे पहला क़दम है विषय-निर्वाचन। यह प्रथम करणीय तो है ही, जटिल और कठिन भी है। प्रायः इसमें ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जैसी कि किसी यात्री के निर्दिष्ट जाने बिना चलना प्रारम्भ कर देने से जो आगे दिग्भ्रमित होकर थोड़ी दूर चलकर यह अनुभव करे कि वह पूर्व के बजाय पश्चिम की ओर आ गया है। इस प्रकार समय और श्रम दोनों का अपव्यय होता है। वास्तव में अनुसंधान के विद्यार्थी के मन में स्वयं ही स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में विषय का स्वरूप विद्यमान रहता है। कम से कम अनुसंधित्सु के लिए यह अपेक्षित तो है ही। हम आगे विचार करेंगे कि इसकी क्या प्रक्रिया है।

यहाँ पर हम सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि अभी अनुसंधान के क्षेत्र में विषय-निर्वाचन में किन प्रणालियों का व्यवहार होता है और उनमें कौन प्रणाली किस रूप में उपादेय है अथवा क्या उसका कोई तारतम्य भी है ? अभी हमारे बीच विषय-निर्वाचन से सम्बन्धित तीन प्रणालियाँ प्रचलित हैं। प्रथम योजना-बद्ध प्रणाली है, जो किसी विभाग या संस्था की एक निश्चित अनुसंधान-योजना से सम्बद्ध होती है। इसके लिए किसी योजना से सम्बद्ध विषयों की एक सूची तैयार की जाती है और उन विषयों पर शोधकर्ता विद्यार्थियों से अनुसंधान कराया जाता है। इस प्रकार योजना-सम्बन्धी निश्चित निष्कर्ष और परिणाम प्रस्तुत किये जाते हैं। दूसरी, स्वच्छंद वैयक्तिक प्रणाली है जो अनुसंधित्सु व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। इसमें विद्यार्थी अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार कुछ विषयों को चुनकर लाता है और निर्देशक उनमें से जो

उपयुक्त समझता है उसके लिए चुन देता है। ऐसा करते समय वह यह बात ध्यान में रखता है कि यदि अनुसंधित्सु द्वारा प्रस्तुत विषयों में से कोई विषय अधिक विस्तृत या अति संक्षिप्त है तो, उसे सुधार कर ठीक करदे और अनुसंधान के अनुरूप उसका स्तर बना दे। बहुधा ऐसा भी होता है कि सुझाये विषयों में से कोई भी उपयुक्त न हुआ, तो उन्हीं के समान कोई अन्य विषय निर्देशक बना देता है और उसके लिए निश्चित कर देता है। तीसरी प्रणाली वह है जिसमें सामान्यत: विषयों की एक सूची प्रतिवर्ष बना ली जाती है और उनमें से कोई विषय अनुसंधित्सु की रुचि के अनुकूल चुन लिया जाता है अथवा बना दिया जाता है। यह प्रणाली ही अधिक प्रचलित है। परन्तु, वास्तव में योजनाबद्ध अनुसंधान की प्रणाली अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ है। उसमें कई बातों की स्पष्ट विशेषता रहती है। प्रथम तो उसमें निष्कर्ष सामाजिक उपयोग के होते हैं; द्वितीय, उसमें अनुसंधान व्यवस्थित ढंग से होता है, तृतीय, उसके परिणामों के चुने हुए उपयोगी अंशों को प्रकाशित किया जा सकता है जिससे अन्य संस्थाओं को उनसे लाभ उठाने का अवसर मिल सके; चतुर्थ, इससे दूसरे संस्थानों में होने वाले कार्यों की पुनरुक्ति की संभावना भी नहीं रहती। साथ ही यदि सर्वत्र इसी प्रकार की योजनाबद्ध प्रणाली द्वारा कार्य होने लगे तो वह कार्य एक दूसरे का पूरक हो सकता है और इस प्रकार साहित्य, इतिहास, दर्शन, शास्त्र, विज्ञान सभी के क्षेत्रों में एक निश्चित एवं नियमित प्रगति की जा सकती है। ऐसे अनुसंधान-कार्यों से राष्ट्र के ज्ञान का व्यवस्थित, विशिष्ट और सर्वांगीण विकास हो सकता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस योजना में विषय-वितरण का कार्य सोच-समझ कर किया जाय। इस कार्य में वैयक्तिक रुचि और क्षमता का भी पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध द्वितीय प्रणाली से है। इस प्रकार की समन्वित प्रणाली विशेष उपयोगी है। इस प्रकार के कार्य को संपन्न करने के लिये एक केन्द्रीय अनुसधान-परिषद् की आवश्यकता है, जो योग्यता, क्षमता, रुचि, सामग्री की सुलभता आदि बातों के आधार पर अनुसंधान-योजनाओं के वितरण का कार्य अपने हाथ में ले और अनुसंधान-परिणामों को परस्पर सम्बद्ध और व्यवस्थित कर उनका यथावसर प्रकाशन भी करती रहे।

विषय-निर्वाचन के प्रसंग में किसी अनुसंधित्सु को विषय देने के पूर्व हमें जिन बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता है, वे हैं—विषय की उपयुक्तता, रुचि और मनोवृत्ति, लगन, अध्ययन की पृष्ठभूमि और क्षमता, सामग्री की सुलभता, योग्य-निर्देशन की सुगमता, तथा विषय की उपयोगिता और महत्व। आगे

हम इन बातों में से एक-एक पर विचार कर रहे हैं।

**१ विषय की उपयुक्तता**—इस शीर्षक के अन्तर्गत हम विषय-निर्वाचन से सम्बन्धित प्रथम और प्राथमिक महत्त्व की बात कह रहे हैं। विषय-निर्वाचन के प्रसंग में अनुसंधाता की उपयुक्तता के अतिरिक्त विषय भी उपयुक्त है, यह बात हमें कई दृष्टियों से देखनी होती है। वह अनुसंधाता की अभिरुचि, अध्ययन, क्षमता के अनुरूप है, इस बात पर विचार करने के साथ-साथ, वह जिस उपाधि के लिए चुना गया है उसके भी उपयुक्त है या नहीं, यह भी विचारणीय है। प्रायः दो उपाधियाँ अनुसंधान-कार्य से सम्बन्धित हैं जो साहित्य-क्षेत्र के अनुसंधाता को उद्दिष्ट होती हैं—एक पी-एच० डी० और दूसरी डी० लिट् (हम प्रयत्न करेंगे कि इनके समकक्ष कोई हिन्दी नाम जैसे, विद्यावाचस्पति, महामहोपाध्याय, विद्यावारिधि आदि प्रचलित हों, जो दो स्तरों के हों)। प्रथम स्तर जो आजकल पी-एच० डी० के विद्यार्थियों के लिए वरणीय है, वह तथ्यानुसंधान का है जिसे अंग्रेज़ी में Discovery of Facts कहते हैं। इसमें बौद्धिक प्रौढ़ता और वैचारिक मौलिकता की उतनी अपेक्षा नहीं जितनी सामग्री-संकलन, तथ्यानुशीलन और अध्यवसाय की। अतः इस उपाधि के लिए चुने गये विषय ऐसे ही होने चाहिएँ जो तथ्यानुसंधान से अधिक संबद्ध हों। द्वितीय स्तर डी० लिट्० ऐसी उपाधियों के लिए हैं जिनके लिए अधिक उच्च स्तर और अधिक व्यापक विषय हो सकता है। इसके लिए बौद्धिक प्रौढ़ता, सूक्ष्म विवेचन-शक्ति और वैचारिक मौलिकता अपेक्षित है। इसमें तत्त्व और सिद्धान्तों के अन्वेषण को महत्त्व दिया जाता है। अतएव इसके चुने गये विषयों में विचार-विवेचन का प्राधान्य होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विषय-निर्वाचन करते समय हमें यह भी देखना चाहिए कि उसका स्वरूप और क्षेत्र स्पष्ट है, उनमें किसी प्रकार की भ्रांति या द्विविधत्व की तो गुंजाइश नहीं है। क्षेत्र आवश्यकता से अधिक संकुचित अथवा अधिक विस्तृत तो नहीं है। यह बात विषय की शब्दावली का निर्णय करते समय ध्यान में रखने की है। शब्दावली द्वारा सूचित विषय अव्याप्ति और अति व्याप्ति दोनों दोषों से तो मुक्त हों ही, साथ ही उससे अनुसंधान की दृष्टि भी अभिव्यक्त हो रही है या नहीं, यह भी देखना आवश्यक है। विषय की शब्दावली में जिस दृष्टि को लेकर अनुसंधाता सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहता है, वह दृष्टि स्पष्टतया व्यंजित होनी चाहिए अथवा उसमें उस मूल सूत्र का संकेत होना चाहिये जिसके सहारे वह सामग्री की मौलिक या नवीन व्याख्या करने जा रहा है। आजकल हमारे सामने प्रायः ऐसे विषय आते हैं जिनमें इस प्रकार

के दृष्टिकोण का अभाव रहता है, अतएव विषय की शब्दावली इस पक्ष में पूर्णतया उपयुक्त है, यह प्रथम विचारणीय बात है।

२. **अभिरुचि और मनोवृत्ति** (Aptitude and inclination)—द्वितीय विचारणीय बात अभिरुचि और मनोवृत्ति की है। अनुसंधान-कार्य में प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि नहीं होती। जिसकी अभिरुचि नहीं है उसके सिर यह कार्य थोपना, व्यक्ति और विषय दोनों ही का अहित करना है। इसी प्रकार विषय के निर्वाचन में भी अभिरुचि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला के विश्लेषण में जिसकी रुचि है उसके लिए दार्शनिक विवेचन से सम्बन्धित विषय देना अनुचित है। इसी प्रकार भाव-सौन्दर्य के पारखी को व्याकरण का अध्ययन कराना अनुपयुक्त होगा। अभिरुचि ही नहीं, वरन् आन्तरिक मनोवृत्ति उस विषय के प्रति चाहिए। अभिरुचि का थोड़ा-बहुत विकास संगति से भी हो जाता है, उसके कारण प्रायः वास्तविक मनोवृत्ति का अनुमान लगाया नहीं जा सकता। अतः रुचि के साथ-साथ उसकी मनोवृत्ति भी उस विषय में रमती है। यह जानना बहुत आवश्यक है। मेरा विचार है कि इसके लिए अनुसंधित्सु के लिए मौलिक या लिखित परीक्षा-जैसा कोई कार्यक्रम होना चाहिए जिसमें निर्देशक किस विषय में उसकी मनोवृत्ति रमती है, यह भली भाँति जान सके। वैज्ञानिक विषयों के अनुसंधान में भी मनोवृत्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है, तो साहित्यिक विषयों के अनुसंधान में तो इसका ध्यान रखना ही चाहिए।[1]

मनोवृत्ति एक ही प्रकार के नहीं, वरन् अनेक प्रकार के विषयों के प्रति हो सकती है, अतः विद्यार्थी को उन्हीं में से कोई विषय देना उचित होता है। इस प्रकार के मनोवृत्ति-सम्बन्धी परीक्षण पुस्तकालय में भी किये जा सकते हैं, जहाँ

In selection of a topic for research, the social scientist must rely upon his own inclinations. The best and most independent minds rebel against pursuing work which does not satisfy their curiosity. Furthermore, where research topics are prescribed rather than elected, the pushing forward of the frontiers of knowledge, is handicapped by and limited to the degree of knowledge, the values and the imagination of those who have the power to prescribe. No one could have directed Einstein or Freud into inquiries they undertook. Even for scientists of more ordinary caliber, the prescription of subject matter eliminates an essential motive for the pursuit of science.

{ Research Methods in Social Relations
{ Part I—by Jahoda and others. Page 15,

पर विद्यार्थी अधिकांश किस प्रकार की पुस्तकें पढ़ता है, यह देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी मनोवृत्ति क्या है। साथ ही उसने अपने पूर्ववर्ती जीवन में जो साहित्य पढ़ा है, उसके आधार पर भी उसकी मनोवृत्ति का निश्चय किया जा सकता है। अतः रुचि और मनोवृत्ति की जांच करके ही निर्देशक को कोई विषय अनुसंधित्सु के लिये स्वीकार करना चाहिए। इसमें निर्देशक और विद्यार्थी दोनों के लिए बड़ी सचाई की आवश्यकता है।

३. **लगन** (Devotedness)—विषय के प्रति अभिरुचि और मनोवृत्ति होने पर अनुसंधान-कार्य के लिये सबसे आवश्यक वस्तु लगन (Devotedness) जागृत हो सकती है। लगन के बिना अनुसंधान-कार्य असंभव ही है। प्रायः ऐसा होता है कि अच्छे-अच्छे विद्यार्थी मनोवृत्ति के प्रतिकूल विषय ले लेते है। उनमें से कुछ ही ऐसे होते हैं जो अपने संयम, अध्यवसाय और आत्मवशता से उस विषय का निर्वाह कर पाते हैं, परन्तु अधिकांश उसे छोड़ बैठते हैं। मन और रुचि के प्रतिकूल विषय में उनकी लगन जागृत नहीं हो सकती और बिना लगन के अनुसंधान-कार्य कैसे हो? उनके लिए वह पहाड़ तोड़ने जैसा कठिन कार्य जान पड़ता है। पर वही कार्य उस विषय में रुचि रखने वाले के लिए मनोरम हो जाता है। अतः लगन जिस विषय के प्रति जागृत हो सके वही विषय अनुसंधित्सु को चुनना चाहिए और निर्देशक को भी इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

४. **अध्ययन की पृष्ठभूमि और क्षमता**—विषय-निर्वाचन करते समय दूसरी महत्त्वपूर्ण परीक्षा अनुसंधित्सु के अध्ययन की है। अभिरुचि होते हुए भी यदि उस विषय के अध्ययन की पृष्ठभूमि अनुसंधित्सु की नहीं है, तो वह गहराई से विषय का विवेचन और तत्त्वान्वेषण नहीं कर सकेगा। हमारे बीच प्रायः ऐसे प्रकाशित अथवा अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध आते हैं जो विद्वानों की निगाह में बड़े हल्के पड़ते हैं, उसका कारण यही है कि उनके अनुसंधाताओं में उस विषय के अध्ययन की पृष्ठभूमि पहले से विद्यमान् नहीं थी। यह तो सामान्य विषयों पर किये गए अनुसंधान-कार्य के स्तर की बात हुई। कुछ विषय तो ऐसे हैं कि जो बिना इस पृष्ठभूमि के चल ही नहीं सकते हैं। ऐसे विषयों में थोड़ी-बहुत पृष्ठभूमि होने पर कार्य सुगम हो जाता है और परिणाम सुन्दर होता है। संस्कृत भाषा, साहित्य अथवा व्याकरण के अध्ययन के बिना किसी ऐसे विषय को स्वीकृत करना जिसमें संस्कृत के ज्ञान की अपेक्षा हो, अपने सिर पर आपत्ति बुलाना है। इसी प्रकार अंग्रेजी, बँगला तमिल आदि अन्य भाषाओं के साहित्यों अथवा विशिष्ट प्रवृत्तियों से तुलना वाला विषय

इन भाषाओं के ज्ञान की सर्वप्रथम अपेक्षा रखता है।

अध्ययन की पृष्ठभूमि के साथ-साथ विषय के गंभीर अध्ययन करने की क्षमता आवश्यक है। इसका सम्बन्ध अध्ययन को आत्मसात् कर विषय में पारंगत होने और उसमें नवीन तत्त्वों के शोध की योग्यता से है। ऐसी दशा में चंचु-प्रवेश मात्र से काम नहीं चलता, वरन् उस विषय की इतनी योग्यता होनी चाहिए कि विषय से संबंधित समस्याओं और प्रश्नों को समझ कर उनका प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विवेचन किया जा सके। अध्ययन की पृष्ठभूमि के साथ यदि इस प्रकार का प्रौढ़ ज्ञान और योग्यता शोधार्थी में है, तो सचमुच ऐसे कार्यों का परिणाम श्लाघनीय होगा। अनुसंधाता में क्षमता इस बात की भी होनी चाहिए कि वह सामग्री का समुचित उपयोग कर सके। यह न होने पर वह सामग्री की भूल-भुलैयाँ में भटक सकता है। अतः उसमें अध्ययन और क्षमता दोनों ही का होना आवश्यक है। इन दोनों के अभाव में अनुसंधान-कार्य अति सामान्य और प्रायः उपहास का विषय बन जाता है।

५. **सामग्री की सुलभता**—किसी भी विषय पर अनुसंधान दो बातों पर निर्भर करता है, एक तो बौद्धिक प्रौढ़ता और वैचारिक क्षमता, दूसरी सामग्री की सुलभता। विषय का निर्वाचन करते समय हमें इन दोनों ही बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। बौद्धिक प्रौढ़ता और वैचारिक क्षमता अनुसंधित्सु में होने पर भी यदि विषय से सम्बन्धित समस्त उपयोगी सामग्री प्राप्त न हो सकी, तो निष्कर्षों में भ्रम हो सकता है और वे ग़लत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश साहित्य में लिखे प्रेमाख्यान-काव्य की सामग्री सुलभ न होने पर हम सूफ़ी प्रेमाख्यान-काव्य की परम्परा को फ़ारसी या विदेशी साहित्य में देखने लगते हैं। इसी प्रकार रसिक संप्रदाय द्वारा प्रणीत रामकाव्य की शृंगारिक परम्परा का अनुमान केवल रामचरितमानस या रामचंद्रिका को पढ़कर नहीं लगाया जा सकता जो कि सामाजिक मर्यादा का अधिक ध्यान रखकर लिखे गये हैं, साधना की रसिकता का नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी। इस प्रकार विषय-निर्वाचन में उससे सम्बन्धित सामग्री किस मात्रा में सुलभ है, यह देखने की प्रथम आवश्यकता है।

कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जो बहुतांश में सामग्री पर ही निर्भर करते हैं। ऐसे विषयों का निर्वाचन तो सामग्री को देखे बिना किया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, विषय का क्षेत्र और नामकरण भी सामग्री का एक बार निरीक्षण करके ही किया जाना चाहिए। इसका हम कारण भी स्पष्ट कर देना यहाँ

आवश्यक समझते हैं। हमारा अधिकांश ज्ञान प्रकाशित पुस्तकों और इतिहास-ग्रंथों के आधार पर बनता है। साहित्य के प्रसंग में अन्वेषकों को प्राचीन पुस्तकालयों और संग्रहालयों में नये-नये, किन्तु अब तक अज्ञात मुद्रित या हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध होते रहते हैं, अतः उनका परीक्षण करके ही उनसे संबंधित विषय दिये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि खोज-रिपोर्टों या अन्यत्र प्राप्त सूचनाओं में अपूर्ण, अर्धपूर्ण वा एकांगी सूचनाएँ मिल जाती हैं। ऐसी दशा में उन पर पूर्णतया निर्भर नहीं किया जा सकता। अतः उस सामग्री को अनुसंधाता के लिए स्वयं देखना अत्यावश्यक है। निश्चय है कि ऐसे विषय सामग्री की सुलभता का अनुमान लगा कर ही दिये जा सकते हैं। यदि सामग्री सुलभ न हो सकी, तो प्रतिभा-सम्पन्न शोधार्थी भी कार्य को आगे नहीं बढ़ा सकता। यदि वह कुछ करता है, तो उसके निष्कर्ष नये, मौलिक और प्रामाणिक न होकर भ्रामक हो सकते हैं। अतः सामग्री की सुलभता का ध्यान विषय-निर्वाचन के प्रसंग में बहुत आवश्यक है।

६. **योग्य निर्देशन**—अनुसंधित्सु में अभिरुचि, अध्ययन की पृष्ठभूमि, बौद्धिक प्रौढ़ता और वैचारिक क्षमता तथा सामग्री सुलभ होने पर भी किसी विषय का निर्वाचन वह योग्य निर्देशन प्राप्त होने पर ही कर सकता है। योग्य निर्देशक के बिना अनुसंधान-कार्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाता। यों कहने के लिए तो प्रत्येक विश्वविद्यालय का अध्यापक और विशेष रूप से आचार्य और अध्यक्ष, प्रत्येक विषय का निर्देशन कर सकता है और करता भी है, परन्तु यह एक प्रकार का काम-चलाऊ कार्य है। निर्देशक स्वयं विषय का विशेषज्ञ न होने पर योग्य और अध्यवसायी अनुसंधाता को न तो प्रोत्साहन ही दे सकता है और न उसकी सूक्ष्म त्रुटियाँ ही बता सकता है। ऐसी दशा में नवीन सिद्धान्त और तत्त्वान्वेषण योग्य विद्यार्थी भी नहीं कर सकते। अतः विषय-निर्वाचन करते समय निर्देशक की योग्यता और विशेषज्ञता विचारणीय है। यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है, या तो निर्देशक निश्चित होने पर उसकी योग्यता और विशेषज्ञता के क्षेत्र में आने वाले विषय को चुना जाय अथवा विषय अन्य प्रकार से पूर्ण निश्चित होने पर उसमें सुयोग्य निर्देशक की शरण में जाया जाय। यहाँ पर यह कह देना अपेक्षित है कि अनुसंधाता को बढ़ती संख्या के अनुसार सुयोग्य निर्देशकों का एक प्रकार से अभाव ही सा जान पड़ता है। दूसरी बात, जो विशेष महत्वपूर्ण और ध्यान देने की, ज़ोर देने की है कि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान-कार्य प्राथमिक महत्ता नहीं प्राप्त कर सका। वह एक गौण सा कार्य समझा जाता है। यह धारणा और भावना बड़ी हानिकारक है। अनुसंधान-कार्य विश्वविद्यालय का

सर्व-प्रमुख कार्य है और इस कार्य को निश्चित सुविधा और मान्यता प्रदान की जानी चाहिये। अनुसंधान-पीठ, अनुसंधान-कक्ष और अनुसंधानाचार्य विश्वविद्यालयों में अलग से होने चाहिए और इनकी ओर विश्वविद्यालय के अधिकारियों को सबसे पहले ध्यान देना चाहिए।

**७. विषय की उपयोगिता और महत्त्व**—इन बातों के अतिरिक्त विषय की उपयोगिता और महत्त्व का भी विचार आवश्यक है। वैसे तो ज्ञान के क्षेत्र में कोई भी विषय अनुपयोगी नहीं है, परन्तु सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए जो विषय उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं उन पर अनुसंधान को प्राथमिकता देनी चाहिए। विषय की उपयोगिता सूचना और ज्ञानवृद्धि दोनों ही की दृष्टि से हो सकती है। इस प्रकार के विषय चुनने से जिनकी कोई सामाजिक उपयोगिता है, सामाजिक जीवन और ज्ञान का विकास होता है। इसके अतिरिक्त विषय महत्त्वपूर्ण होने से अनुसंधित्सु अधिक उत्साह और गौरव के साथ अपने कार्य में अग्रसर होता है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यह उत्साह और अनुसंधान-कार्य के महत्त्व के कारण गौरव की भावना ही अनुसंधान-कार्य का वास्तविक पुरस्कार है। यदि अनुसंधाता के कार्य को उस महत्त्व के गौरव का अनुभव होने लगता है, तो वह अधिक गहरी लगन और अध्यवसाय से कार्य में संलग्न होता है। इसके अतिरिक्त इसका और एक बड़ा उपयोग यह है कि इस भावना से कार्य करने में अनुसंधान-कार्य की गौरवमयी परम्परा पड़ जाती है जो अपना निजी, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्व रखती है। ज्ञानानुसंधान के क्षेत्र में इसी महत्त्व के गौरव की स्पृहा वांछनीय है। अन्य स्थूल स्वार्थों को दृष्टि में रखकर अनुसधान जैसा कार्य अपनी निजी महत्ता खो बैठता है। वह निजी महत्ता विषय की निजी उपयोगिता और महत्त्व में स्वतः निहित रहती है।

वास्तव में अनुसंधान-कार्य एक पवित्र और निरपेक्ष कार्य है। विषय के निर्वाचन के साथ ही यह आवश्यक है कि निर्देशक अनुसंधाता में उसके महत्त्व की भावना भली भाँति भर दे। इस भावना को लेकर ही, अनुसंधाता उस निजी कार्य के गौरव का अनुभव करने लगेगा और उसमें उसकी गंभीर अभिरुचि और लगन जागृत होगी, साथ ही वह अदम्य उत्साह से विषय के एक-एक निष्कर्ष और परिणाम निकालने में अपूर्व आनंद का अनुभव करने लगेगा। अनुसंधान-कार्य में इस प्रकार के आनंद की अनुभूति ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व और सिद्धान्तों को खोज निकालने और सामग्री को खोजने और उसका अनुशीलन करने की अद्भुत क्षमता जागृत करती है।

निर्देशक वास्तव में अनुसंधाता को सामग्री, सूचना और तत्त्व या सिद्धान्त

स्वयं निकाल कर नहीं देता । जो ऐसा समझते हैं वे भ्रम करते हैं । निर्देशक अनुसंधाता को एक दृष्टि प्रदान करता है । वह उसके अध्ययन को फिर से देखने की एक ज्योति देता है जिसके आलोक में वह नवीन तथ्यों और तत्त्वों को खोज सकता है । निर्देशक से इस दृष्टि या ज्योति को पाकर ही अनुसंधाता में अस्पष्ट, अज्ञात, या अर्धज्ञात विषय स्पष्ट हो जाते हैं । विषय के सम्पूर्ण क्षेत्र का उद्-घाटन भी यही दृष्टि करती है । जो अत्यन्त छोटे विषय लगते हैं वे निर्देशक द्वारा दृष्टि प्राप्त होने पर विस्तृत हो जाते हैं । उलझे, अस्पष्ट और असीम लगने वाले विषय सुलझ कर स्पष्ट हो जाते हैं और उनकी सीमायें दिखाई देने लगती हैं ।

इस प्रकार विषय के स्पष्टीकरण के साथ ही साथ अपनी अभिरुचि, मनो-वृत्ति तथा क्षमता की पहचान भी अनुसंधाता को सुयोग्य निर्देशक का संपर्क और आश्रय-लाभ होने पर ही प्राप्त होती है । वह अपनी अभिरुचि और क्षमता के प्रति जागरूक होते ही एक अपूर्व उत्साह और विलक्षण गहरी लगन का अनुभव करने लगता है और वह चाहता है कि बस अनुसंधान-कार्य में वह जुट जाये । वह तुरन्त सामग्री को उसी नई दृष्टि से देखकर जो उसे निर्देशक से प्राप्त हुई है, उन नये परिणामों और निष्कर्षों की जाँच करना चाहता है जिनकी ओर उसे संकेत मिला है । इस स्थिति को प्राप्त कर ही अनुसंधान-कार्य वास्तविक रूप ग्रहण करता है । अन्यथा वह एक मखौल या बेगार बन जाता है ।

इस बातों पर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करते हैं तो हमें पता चलता है विषय-निर्वाचन जैसा अनुसंधान-कार्य का अति उपेक्षित अंग कितना महत्त्व रखता है । यह अनुसंधान-कार्य का बीज है, उसे ठीक-ठीक रीति से समुचित धरती पर आरोपित करने से सुन्दर परिणाम के फल-फूल निकल सकते हैं, अन्यथा बीज के निर्बल और भूमि के अनुर्वर होने पर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । आशा है हम इस विषय-निर्वाचन के कार्य को समुचित महत्त्व देकर अनुसंधान-कार्य की गौरवमयी परम्पराएँ बनाने का हृदय से प्रयत्न करेंगे ।

आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-

# शोध-सामग्री

मेरा विचारणीय विषय है शोध की सामग्री का संकलन। स्पष्ट ही यह विषय बहुत ही विस्तृत है, क्योंकि शोध के विषय और प्रकार के अनुसार ही सामग्री की बात सोची जा सकती है। 'शोध' शब्द का प्रयोग 'रिसर्च' शब्द के अर्थ में होने लगा है। 'रिसर्च' में 'रि' उपसर्ग मृशार्थक भी है और गंभीर अभिनिवेशार्थक भी। स्थूल अर्थों में वह नवीन और विस्मृत तत्त्वों का अनुसंधान है जिसको अंग्रेज़ी में 'डिसकवरी आफ़ फैक्ट्स' कहते हैं। और सूक्ष्म अर्थ में वह ज्ञात साहित्य के पुनर्मूल्यांकन और नई व्याख्याओं का सूचक है। दोनों ही अर्थों में वह मनुष्य के बाह्य और अन्तर-विकास की कड़ियों का अनुसंधान है। कड़ियां खोई हुई और विस्मृत भी हो सकती हैं और अपख्यात और व्याख्यात भी हो सकती हैं। इसीलिये प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में शोध के लिये दो शर्तें लगा दी गई हैं। पहली शर्त तो यह है कि शोध का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए जिसमें अज्ञात या अल्पज्ञात विषयों का अनुसंधान हो और दूसरी शर्त यह है कि पुराने पंडितों द्वारा स्थापित और गृहीत मान्यताओं का नये तथ्यों के आलोक में पुनर्मूल्यांकन या नवीन व्याख्या। शोध-प्रबन्ध में दोनों में से एक भी हो तो वह स्वीकार्य होता है, दोनों ही हों, तो और भी अच्छा। इसीलिये शोध के लिये सामग्री-संकलन के समय इन दोनों बातों का ध्यान रखना परम आवश्यक हो जाता है। सच तो यह है कि तथ्यों का, अनुसंधान के द्वारा, पुनर्मूल्यांकन और नई व्याख्या हो ही नहीं सकती। तथ्य ऐसे होने चाहिए जिनकी प्रामाणिकता निस्संदिग्ध हो, और प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए गवाहियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जो प्रामाणिक हों। अवितथ

सत्य और अनासक्त दृष्टि शोध-विद्यार्थी के लिये परम आवश्यक हैं, बल्कि ये दो बातें उसके निर्देशक सिद्धान्त के रूप में मानी जानी चाहिए।

अब इन बातों को ध्यान में रखकर अनुसन्धाता को शोध-सामग्री का संकलन करना पड़ता है। हिन्दी में जो शोध-विषय विभिन्न विश्वविद्यालयों में स्वीकृत हुए हैं उनको कुछ मोटे विभागों में इस प्रकार बाँटा जा सकता है :

१. मध्यकालीन साहित्य के ग्रन्थों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में अवितथ सामग्री की खोज और उसके द्वारा साहित्य-इतिहास का पुनर्निर्माण।
२. मध्यकालीन साहित्य में अभिव्यक्त विभिन्न प्रकार की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विचारधाराओं का यथार्थ स्वरूप-निर्धारण।
३. मध्यकालीन साहित्य के विविध साहित्य-रूपों, शैलियों, छन्दों, अलंकारों आदि का यथार्थ विवेचन।
४. मध्यकालीन भाषा के विभिन्न रूपों का विश्लेषण, पूर्ववर्ती भाषा से उनके विकास का सूत्र-संधान और परवर्ती भाषा के विकास में उनके योग दान का यथार्थ स्वरूप-निर्धारण।
५. आधुनिक काल के अपेक्षाकृत पुरानी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी आन्दोलनों और नवीन विचारों के अभ्युदय का यथार्थ स्वरूप-निर्धारण।
६. आधुनिक साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध करने वाले साहित्यकारों का उचित परिपार्श्व में उचित मूल्यांकन।
७. आधुनिकतम साहित्य में विशेष विचारधाराओं के अभ्युदय का हेतु, स्वरूप और परिणाम-निर्धारण।
८. लोकभाषाओं में सुरक्षित गीतों, लोक-गाथाओं, कथाओं, आदि का संकलन, संपादन और मूल्यांकन।
९. विभिन्न क्षेत्रों की उपभाषाओं में व्यवहृत लोक-शब्दावली का संधान और मूल्यांकन।
१०. व्याकरण और भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध विषयों जैसे नामधातु, परसर्ग, अनुकरण-मूलक धातु, क्रिया, अव्यय आदि के विकास का अध्ययन और ध्वनि-विचार, अर्थ-विस्तार, वाक्य-विन्यास का विचार और उनके विकास आदि का अनुशीलन।
११. प्राचीन ग्रन्थों का वैज्ञानिक ढंग से पाठ-संकलन और सम्पादन।

साधारणतः इन ग्यारह मोटे विभागों में विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हिन्दी शोध-विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। ग्रन्थों के वैज्ञानिक पर्यालोचन और सम्पादन जैसे विषय अभी उतने लोकप्रिय नहीं हुए हैं परन्तु विश्व-

विद्यालयों ने ऐसे विषयों की स्वीकृति देना भी प्रायः प्रारम्भ कर दिया है। आशा है ऐसे गंभीर विषयों की ओर भी शोध-प्रेमी विद्वान अधिकाधिक आकृष्ट होंगे।

इन विषयों को सामग्री की दृष्टि से चार मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है :

१. मध्यकालीन लोक-भाषा के उस साहित्य का अध्ययन जो पुराना हिन्दी साहित्य कहा जाता है।
२. भाषा-विज्ञान और व्याकरण आदि का अध्ययन।
३. साहित्य-रूपों, छंदों-अलंकारों, शैलियों अर्थात् साहित्य के कला-पक्ष का अध्ययन, और
४. आधुनिक साहित्य का अध्ययन।

## शोध या रिसर्च क्या है ?

वस्तुतः शोध या रिसर्च भी आधुनिकता की ही देन है। पुराने जमाने में पंडित और शास्त्र-निष्णात बनने की जो धुन थी, वह आधुनिक युग के रिसर्च या शोध की इच्छा से थोड़ी भिन्न थी। विज्ञान के द्वारा सुलभ किए गए साधनों ने ही उस अनासक्त उदार अध्ययन-निष्ठा को जन्म दिया है जिसका आनुषंगिक फल आधुनिक विश्वविद्यालयों के शोध-प्रयत्न हैं। वैज्ञानिक साधनों के विकास और उसके द्वारा निरंतर पोषित सामाजिक विकास के साथ-साथ शोध-सम्बन्धी विचारों में भी क्रमशः विकास होता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नये वैज्ञानिक साधनों ने यातायात की कठिनाइयाँ दूर कर दीं और यूरोपीय देशों ने दूर-दूर के देशों पर कब्ज़ा करके अपने-अपने देशों की समृद्धि बढ़ाई, उसी समय पुराने ध्वंसावशेषों की खुदाई बड़े पैमाने पर की जाने लगी। १८२६ ई० में रोम का प्रसिद्ध आरक्योलाजिकल इन्स्टीट्यूट खोला गया। रोम और एथेंस के फ्रेंच स्कूलों की स्थापना क्रमशः सन् १८४६ और सन् १८७३ में हुई। इन्हीं में अमेरिकन स्कूलों की स्थापना क्रमशः १८८२ और १८६२ ई० और ब्रिटिश स्कूलों की क्रमशः १८८३ और १६०१ ई० में स्थापना की गई। देखते-देखते ट्राय, डेल्फी, माइसेना, टाइरिन्स, स्पार्टा, ओलिम्पिया, एपिडारस, डोडोना, डेल्स, क्रीट आदि प्राचीन स्थानों की खुदाई हुई और प्राचीन जगत की आश्चर्य-चकित कर देने वाली बातों का पता लगा। मिस्र देश की पेपरी पोपियों की खुदाई से महत्त्वपूर्ण साहित्य का भी पता लगा। अरस्तू द्वारा रचित 'एथेन्स का संविधान' जैसा बहुमूल्य ग्रन्थ (सन् १८६७ ई०) ऐसे ही अनुसंधान के

फलस्वरूप हाथ लगा। इन खुदाइयों में उपलब्ध सामग्री की जाँच के लिए उपलब्ध पुराने साहित्य को नये सिरे से समझने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार प्राचीन शास्त्रों के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन को बल मिला। पुरानी टीकाओं की व्याख्या को एकमात्र प्रमाण मानने की प्रवृत्ति समाप्त हुई और शास्त्रीय अध्ययन और पुरातत्त्व एक-दूसरे के पूरक और सहायक रूप में अधीत होने लगे। यूरोप में जिन दिनों इस प्रकार की शास्त्र-निष्ठा वेग से विद्वज्जनों को प्रेरणा दे रही थी, उसी समय भारतवर्ष के पुराने साहित्य और पुरावृत्त के अनुसंधान का भी क्रम शुरू हुआ। यहाँ भी यूरोपीय विद्वान् इस कार्य में सयत्न थे। यद्यपि भारत सरकार ने देर में आरक्योलाजिकल सर्वेक्षण को अपना स्थायी और पूर्ण संरक्षण दिया, पर आरक्योलाजी का अनुसंधान बहुत पहले ही पर्याप्त निष्ठा के साथ आरम्भ हो गया था। सर विलियम जोन्स ने कलकत्ते में 'एसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' नामक विद्वत्सभा की स्थापना की थी, जो आगे चलकर भारतीय विद्या के उद्धार में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकी। इस देश के पुराने स्थानों की खुदाई और पुरानी लिपियों के पुनरुद्धार की कहानी जितनी मनोरंजक है, उतनी ही प्रेरणा देने वाली। यूरोप के अनेक कृती विद्वानों ने तन, मन, धन लगाकर ज्ञान की इस दीपशिखा का आलोक उज्ज्वल किया। अकेले कोलब्रुक ने पुरानी पोथियों के संधान में दस हज़ार पौंड से अधिक ख़र्च किया। पुरातत्त्व के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान और नृतत्त्व-विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। इन्हीं भूली बातों को खोजने और उन्हें अवितथ भाव से लोकगोचर करने के प्रयत्नों को अंग्रेजी में 'रिसर्च' नाम दिया गया। इस शब्द में 'रि' उपसर्ग उतना पुनरर्थक नहीं है जितना पौनःपुनिक अभिनिवेश और गंभीर प्रयत्न का द्योतक है। परन्तु है वह शोध या अनुसंधान का ही सूचक। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी का समूचा पांडित्य प्राचीन और विस्मृत इतिहास के शोध और परीक्षण पर ही बल देता है।

जिन दिनों की बात हो रही है उन दिनों नृतत्त्व-विज्ञान को पुरातत्त्व के यथार्थ और अवितथ अध्ययन में सहायक रूप से ही ग्रहण किया गया था। अनेक आदिम जातियों की रहन-सहन, रीति-नीति, धार्मिक विश्वास आदि ने उन दिनों क्लासिक पुरावृत्त के अध्ययन को बिल दया था। बहुत दिनों तक पुराने ग्रन्थों के पाठों के अध्ययन और सम्पादन और काव्य-रूपों की आलोचना को ही नये ढंग से पंडितों ने बहुमान दिया, फिर धीरे-धीरे लेखकों और ग्रन्थों की अन्तरंग तथा बहिरंग परीक्षा के आधार पर काल-निर्णय का प्रयास प्रमुख

हो उठा। पुरावृत्त के अध्ययन में इन सबका उपयोग था। जब तक शुद्ध और प्रामाणिक पाठ न उपलब्ध हो जाय और जब तक इस पाठ के लेखक के प्रामाणिक काल का पता न चल जाय, तब तक उनके आधार पर ध्वंसावशेषों से प्राप्त सामग्री का, उस काल की सामाजिक स्थिति का और भाषा तथा विचारों का उचित अध्ययन नहीं हो सकता। इन सबके परिणामस्वरूप प्रसिद्ध और सर्वमान्य लेखकों और ग्रन्थों के विषय में अनेक ऊहापोह हुए और ज्ञात जगत के प्राचीन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में एक मोटी-सी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकी। पुरावृत्त के अध्ययन के सहायक शास्त्रों में क्रमशः विकास होता गया और कालान्तर में अनेक शास्त्र विद्वानों द्वारा उद्‌भूत और प्रतिष्ठित हुए। उनके साथ ही साथ शोध का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। अठारहवीं शती में जिस इतिहास को 'विश्वकोष की मर्यादा' (डिग्निटी आफ एन एनसाइक्लोपीडिया) के योग्य भी नहीं समझा जाता था वह विद्वज्जनोचित प्रमुख विषय बन गया। इतिहास के बारे में विचार बदले। अब वह केवल राजाओं और राजपुरुषों के उत्थान-पतन का विनिगमक न रहकर समूची मनुष्यता के अग्रसर होने या पीछे हटने या ठिठक रहने की जीवन्त कथा के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। इस विचार का एक बहुत महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि केवल प्रसिद्ध और शास्त्र-विश्रुत आचार्य और उनके ग्रन्थ ही अध्ययन के विषय नहीं रह गए, कम ख्यात और अख्यात लेखकों की रचनाओं का महत्त्व भी स्वीकृत हुआ। शिलापट्टों, भित्तिगात्रों, दानपत्रों और साधारण जीवन के दैनिक व्यवहार के चिट्ठी-पत्रों का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा और इन वस्तुओं की खोजबीन से महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के इंगित पाए गए। ये वस्तुएँ ही शोध-सामग्री के रूप में समादृत हुईं।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में शोध का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया। मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का कोई अंग शोध-कार्य के अनुपयुक्त नहीं माना गया। यद्यपि विश्वविद्यालयों ने इन कार्यों को बहुत सावधानी के साथ फूंक-फूंककर क़दम बढ़ाते हुए स्वीकार किया, परन्तु अनेक विद्वत्प्रतिष्ठानों, शोध-पत्रिकाओं, वार्षिक विद्वत्सम्मेलनों और सरकार द्वारा स्थापित पुरातत्त्व, भाषा और मनुष्य-गणना के सर्वेक्षणीय प्रयत्नों ने प्राचीन और नवीन ज्ञान का बहुत अच्छा मंथन किया। आज इन प्रयत्नों के सम्मिलित परिणाम आश्चर्य-जनक और आशाजनक जान पड़ते हैं, किन्तु आरम्भ में जिन्होंने इन प्रयत्नों को आरम्भ किया था, उन्हें भयंकर आशंकाओं और कठिनाइयों के भीतर से बढ़ना पड़ा था। निस्संदेह वे हमारी हार्दिक कृतज्ञता और प्रणिपात के अधिकारी हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी विद्वानों ने कठिन परिश्रम के बाद भारतीय इतिहास का संपूर्ण चित्र प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनका थोड़ा-बहुत ध्यान हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य की ओर भी गया। उनका प्रधान उद्देश्य था 'ऐतिहासिक' समझी जाने वाली सामग्री का पता लगाना। इसी दृष्टि से शुरू-शुरू में हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन आरम्भ हुआ। उन दिनों शोध-प्रिय विद्वत्सभाओं की ओर से ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन का यत्न किया गया, जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होने की आशा थी। बाद में कुछ विदेशी पंडितों की रुचि भाषा-विकास की ओर भी हुई और इस दृष्टि से भी हिन्दी के पुराने ग्रन्थों के अध्ययन का प्रयत्न किया गया। इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त एक तीसरा उद्देश्य और भी था, जिसे सामने रखकर कई विदेशी पंडितों ने हिन्दी के कुछ धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। इन दिनों ईसाई धर्म के प्रचार में कई विदेशी धर्मयाजक प्रयत्नशील थे। उन्होंने हिन्दी में लिखे धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन उन लोगों के संस्कारों और विश्वासों के अध्ययन के लिए ही शुरू किया था, जिनके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना पड़ता था। कहना बेकार है कि इस प्रकार की दृष्टि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुत ही सदोष है, फिर भी यह सत्य है कि इस उद्देश्य को सामने रखकर जिन लोगों ने अध्ययन आरम्भ किया था उन्होंने भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जो भावी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि इस देश में जिस विदेशी जाति से भारतवर्ष का संपर्क हुआ वह अपने भारतीय समृद्धि के शोषक रूप में ही परिचित है, तथापि उस जाति के चित्त में विज्ञान-प्रेम अंकुरित हो चुका था, और उसकी दृष्टि में एक प्रकार का बौद्धिक वैराग्य और विवेक प्रतिष्ठित हो चुका था। सौभाग्यवश आरम्भ में भारतवर्ष को अनेक उदार और कृती विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ, और किसी-किसी क्षेत्र में छोटे उद्देश्यों को सामने रखकर काम करने पर भी इन पंडितों ने बड़े परिश्रम से हमारे साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। विशुद्ध ज्ञान-साधना ही जिनका उद्देश्य था, उन्होंने हिन्दी-ग्रन्थों का अध्ययन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने और भाषा-विकास की अवस्थाओं की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ही किया। बहुत दिनों तक विदेशी विद्वानों के मन में भी हिन्दी-साहित्य के पुराने ग्रन्थों का यदि कोई महत्त्व था तो इन्हीं दो कारणों से। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी ग्रन्थों के अध्ययन का कार्य बहुत बाद में शुरू हुआ। वस्तुतः अपने-अपने देशों में भी उस समय तक यूरोपीयन पंडितों का ध्यान अपनी मातृभाषा या लोक-भाषा या लोक-भाषा के ग्रन्थों की ओर

प्रायः नहीं गया था। किन्तु ऐसा लगता है कि जिन विदेशी पंडितों ने ऐतिहासिक सामग्री पाने की लालसा से ही इस साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया था, उनका उत्साह बहुत देर तक नहीं टिक सका। पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ विवाद का विषय सिद्ध हुईं, पद्मावत की ऐतिहासिक मानी जाने वाली घटना की प्रामाणिकता सन्देहात्मक समझी गई। कई अन्य दरबारी और चारण कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित हुई। इधर तत्तत् बादशाहों के समसामयिक मुस्लिम ग्रन्थकारों की रचनाओं से ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक विश्वसनीय सामग्री प्राप्त होने लगी। ऐतिहासिक पंडितों का झुकाव उसी ओर होता गया। हिन्दी-ग्रन्थों के अध्ययन का उत्साह ठंडा पड़ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोपियन पंडित हिन्दी साहित्य से प्रायः उदासीन हो गये, परन्तु सौभाग्यवश हिन्दी के विद्वानों ने स्वयं अपने ऊपर इस कार्य को ले लिया। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद और अध्ययन विदेशी पंडितों ने जिस लगन के साथ किया था उसकी आधी निष्ठा के साथ भी हिन्दी के किसी ग्रन्थ का नहीं किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग में यूरोप में सारे संसार की क्लासिक समझी जाने वाली रचनाओं के शुद्ध और अवितथ अनुवाद की धूम मच गई। इन अनुवादों के प्रधान प्रेरक-सूत्र दो थे—(१) अनुवाद यथासंभव अवितथ हो ताकि मूल पढ़े बिना भी केवल अनुवाद के आधार पर मूल ग्रन्थ की पूर्ण विशेषता समझ में आ जाए, और (२) भाषा सहज बोध्य, सुपाठ्य और प्रवाह-युक्त हो। इस प्रकार का प्रयत्न बहुत ही कठिन था परन्तु यूरोपीय विद्वानों ने पाद-टिप्पणियों, व्याख्यात्मक टिप्पणियों, परिस्थिति को स्पष्ट करने वाली भूमिकाओं और परिशिष्टों को जोड़कर इस असाध्य साधन व्रत को पूरा किया। हमारे देश के संस्कृत, प्राकृत, पाली तथा देशी भाषाओं के अनेक ग्रन्थ इन्हीं दिनों अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं में अनुदित हुए। जो लोग इन अनुवादों से परिचित हैं वे ही जानते हैं कि कितने गहन परिश्रम के बाद ये अनुवाद प्रकाशित किए गए हैं। हमारे देश के अनेक कृती विद्वानों ने भी विदेशी भाषाओं विशेषकर अंग्रेजी भाषा में अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया है।

शोध-प्रतिष्ठानों ने समसामयिक विचार को भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। भविष्य के कार्यकर्ताओं की जानकारी के लिए विद्वानों के उन मनोभावों की जानकारी भी आवश्यक है, जिनसे प्रेरित होकर उन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संपादन या अनुवाद किया या नये सिद्धान्तों का बीजारोप किया।

अपने समसामयिक साहित्यकारों से उनकी रचनाओं के बारे में जो स्वोक्तियाँ प्रकाशित की हैं वे भावी शोधकर्ताओं के लिए बहुत उपयोगी होंगी। मैं समझता हूँ यह कार्य और भी व्यापक रूप से होना चाहिए। साथ ही पुरातन साहित्य के संपादन, प्रकाशन और अनुवाद आदि का काम भी यथाशक्ति हाथ में लेना चाहिए।

अब तक जिन प्रयत्नों के बारे में कहा गया है उनके मूल में ज्ञान की प्रबल भूख है। जैसे-जैसे ज्ञान के नए क्षेत्रों का पता लगता गया है वैसे-वैसे महाप्राण विद्वानों की ज्ञान-पिपासा बढ़ती गई है। यही निरन्तर वर्धमान ज्ञान-पिपासा शोध-कार्य का मूल मन्त्र है। जिसमें एक बार यह पिपासा जागृत हो गई उसे कोई परिश्रम और अध्यवसाय से रोक नहीं सकता है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के भारतवर्ष के इतिहास को ही यदि आप ध्यान से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि पुराने इतिहास के शोध के क्षेत्र में दुनिया ही बदल गई है। एक ज़माना था कि अशोक के शिलालेखों को कोई पढ़ने वाला नहीं था। ऐतिहासिक स्थानों के सम्बन्ध में ऊटपटाँग लोक-प्रवाद व्यापक रूप में चल रहे थे, किन्तु आज हमारे सामने प्रामाणिक तथ्यों का अपार भंडार उद्घाटित है और फिर भी वह भंडार पूरा नहीं है। अभी न जाने कितना कुछ साधकों की इंतज़ारी में धूल में ढका हुआ है। फिर यदि संसारव्यापी शोध-कार्य की ओर दृष्टि फिराएँ तो और भी चकित हो जाना पड़ता है। कोई देश या राष्ट्र स्वतन्त्र भाव से विकसित नहीं हुआ है। सुदूर अतीत से जहाँ तक ज्ञान-रश्मियों का क्षेपण शोध-पंडितों ने किया है वहाँ तक स्पष्ट दिखाई देता है कि राष्ट्रीय, धार्मिक और जातीय दलों में विभक्त होते हुए भी मनुष्य ने एक दूसरे को दिया है, एक दूसरे से लिया है। संघर्षों और विकट द्वन्द्वों के ऊपर महाकाल देवता ने विस्मृति का पर्दा डाल दिया है और आदान-प्रदान के मिलन-सूत्र को दृढ़ से दृढ़तर बनाया है। कठोर संघर्षों के अंतराल में विशाल मनुष्य जाति का निर्माण निर्बाध गति से होता आया है।

ज्ञान की प्रबल पिपासा ने मनुष्य को शोध-प्रवृत्ति दी है और जब तक यह पिपासा है तब तक शोध के काम में न शिथिलता आएगी, न विस्तार या पिष्ट-पेषण की आशंका होगी। वस्तुतः इन दिनों विश्वविद्यालयों के द्वारा किए-कराए जाने वाले शोध की एक बड़ी त्रुटि यह है कि वे सब समय विशुद्ध और दुर्दम जिज्ञासा द्वारा चालित नहीं होते। पदोन्नति, जीविका-प्राप्ति और अल्पा-यासलभ्य यशोलिप्सा इस कार्य में जब प्रेरक वृत्ति के रूप में काम करने लगती है तो अपने साथ बहुत से दोष ले आती है। मुझे खेद के साथ स्वीकार करना

पड़ता है कि ये वृत्तियाँ शोध-कार्य को प्रायः प्रेरणा देती दिखाई देती हैं। यदि समय रहते इन्हें ऐसा करने से न रोका गया तो शोध-कार्य भी अन्य परीक्षाओं को पास करने की भाँति साफल्य-लाभ के कौशल की कोटि में चला जाएगा। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि ज्ञान की साधना में कोई कलुष न आने पावे।

जहाँ तक पुराने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन और पुर्नानिर्माण का प्रश्न है मेरा निश्चित और दृढ़ विश्वास है कि यह इतिहास केवल संयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। बहुत जगह हमें पंक्तियों के बीच में पढ़ना पड़ेगा। मैं उदाहरण देकर अपनी बात समझाने का प्रयत्न करूँगा। सामग्री पर विचार करते समय उन इंगितों की बात हम नहीं छोड़ सकते जो द्वन्द्वों, मुहावरों, लोकोक्तियों, काव्य-रूपों, छन्दों आदि से निश्चित रूप में प्राप्त होती है। कुछ की ओर मैं पहले ही विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर चुका हूं। कुछ की ओर आज भी आपको उन्मुख करना चाहता हूँ। सबके दो-दो उदाहरण भी दूँ तो 'बाढ़ै कथा पार नहिं लहहूँ।' इसलिये केवल कुछ की ओर इंगित करना चाहता हूँ।

हिन्दी का साहित्य आरम्भ से ही लोकभाषा का साहित्य रहा है। इस बात का मेरी दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। संयोग से जो पुस्तकें हमें प्राप्त हुई हैं उनसे हम समाज की किसी विशेष चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं, पर उस विशेष चिन्ताधारा के विकास में जिन पार्श्ववर्ती विचारों और आचारों ने प्रभाव डाला था, वे, बहुत संभव है, पुस्तक रूप में कभी लिपिबद्ध हुए ही न हों और यदि लिपिबद्ध हुए भी हों तो संभवतः प्राप्त न हो सके हों। कबीरदास का बीजक दीर्घकाल तक बुन्देलखंड से झारखंड और वहाँ से बिहार होते हुए धनौती मठ में पड़ा रहा और बहुत बाद में प्रकाशित किया गया। उसकी रमैनियों से एक ऐसी धर्म-साधना का अनुमान होता है जिसके प्रधान उपास्य निरंजन या धर्मराज थे। उत्तरी उड़ीसा और झारखंड में प्राप्त पुस्तकों तथा स्थानीय जातियों की आधार-परम्परा के अध्ययन से यह अनुमान पुष्ट होता है। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्म ठाकुर की परम्परा अब भी जारी है। इस जीवित संप्रदाय तथा उड़ीसा के अर्द्ध-विस्मृत संप्रदायों के अध्ययन से बीजक के द्वारा अनुमानित धर्म-साधना का समर्थन होता है। इस प्रकार कबीरदास का बीजक इस समय यद्यपि अपने पुराने विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं है, उसमें बाद के अनेक पद प्रक्षिप्त हुए हैं, तथापि वह एक जन-समुदाय की विचार-परम्परा के अध्ययन में सहायक है। कबीर का बीजक केवल अपना ही परिचय देकर समाप्त

नहीं होता। वह उससे अधिक है। वह अपने इर्द-गिर्द के मनुष्यों का इतिहास बताता है।

भारतीय समाज ठीक वैसा ही हमेशा नहीं रहा है, जैसा आज है। नये-नये जन-समूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने-अपने विचारों और आचारों का प्रभाव छोड़ते रहे हैं। आज की समाज-व्यवस्था कोई सनातन व्यवस्था नहीं है। आज जो जातियाँ समाज के निचले स्तर में पड़ी हुई हैं, वे सदा वहीं रहीं हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार समाज के ऊपरी स्तर में रहने वाली जातियाँ भी नाना परिस्थितियों को पार करती हुई वहाँ पहुँची हैं। इस विराट जन-समुद्र का सामाजिक जीवन काफ़ी स्थितिशील रहा है। फिर भी ऐसी धाराओं का नितान्त अभाव भी नहीं रहा है, जिन्होंने समाज को ऊपर से नीचे तक आलोड़ित कर दिया है। ऐसा भी एक ज़माना था, जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी अलग पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक की भावना थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं। किसी विराट सामाजिक दबाव के फलस्वरूप एक बार समूचे जन-समाज को दो बड़े-बड़े कैंपों में विभक्त हो जाना पड़ा—हिन्दू और मुसलमान। गोरखनाथ के बारह संप्रदायों में उनसे पूर्वकाल के अनेक बौद्ध, जैन, शैव, और शाक्त संप्रदाय संगठित हुए थे। उनमें कुछ ऐसे संप्रदाय जो केन्द्र से अत्यन्त दूर पड़ गए थे, मुसलमान हो गए, कुछ हिन्दू। हिन्दी-साहित्य की पुस्तकों से ही उस परम शक्तिशाली सामाजिक दबाब का अनुमान होता है। इतिहास में इसका कोई और प्रमाण नहीं है, परन्तु परिणाम देखकर निःस्संदेह इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि मुसलमानों के आगमन के समय इस देश में प्रत्येक जन-समूह को किसी न किसी बड़े कैम्प में शरण लेनी पड़ी थी। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक के अर्द्ध-चन्द्राकृति भू-भाग में बसी हुई जुलाहा जाति को देखकर रिजली ने (पीपुल्स आव इंडिया, पृष्ठ १२६) अनुमान किया था कि इन्होंने कभी सामूहिक रूप में मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। हाल की खोजों से इस मत की पुष्टि हुई है। ये लोग न हिन्दू, न मुसलमान, योगी संप्रदाय के शिष्य थे।

एक उदाहरण दूं। बीजक में 'रमैया राम' शब्द आता है। सांप्रदायिक परम्परा के अनुसार 'रमैया राम' धोखा ब्रह्म या भरमाने वाले निरंजन का बोधक है। पहले मैं 'रमैया' शब्द की ध्वनि को ही इस विश्वास का कारण समझता था। परन्तु इधर मेरे मन में एक और बात उठी है। बँगला में प्राप्त

शून्य पुराण, धर्म-मंगल आदि पुस्तकों के रचयिता 'रमाई पंडित' बताए जाते हैं। ओरांव लोगों में भी रमई पंडित बड़ी पूज्य बुद्धि से स्मरण किए जाते हैं। क्या यही रमई पंडित भरमाने वाले 'रमैया राम' तो नहीं हो गए ! कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि कबीर-पंथियों को रमई पंडित के अनुयायियों से निबटना पड़ा था। यदि इस शब्द के साथ रमाई पंडित का सम्बन्ध स्थापित किया जा सके, तो एक बहुत बड़ी विस्मृत कड़ी अनायास मिल जाएगी। और पूर्वी भाषाओं के साहित्य के पुनर्मूल्यांकन का एक बहुत बड़ा साधन हाथ लगेगा।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, संप्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ़ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रभावित हो रही है उसको समझने के लिये ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।

सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं का लोक-भाषा का जो साहित्य बनता रहा, वह अधिकांश उपेक्षित है। बहुत काल तक लोगों का ध्यान इधर गया ही नहीं था। केवल लोक-साहित्य ही क्यों, वह विशाल शास्त्रीय साहित्य भी उपेक्षित ही रहा है जो उस युग की समस्त साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का उत्स था। कश्मीर के शैव साहित्य, वैष्णव साहित्य, वैष्णव संहिताओं का विपुल साहित्य, पाशुपत शैवों का इतस्ततो विक्षिप्त साहित्य, परवर्ती माने जाने वाले उपनिषदों का विस्तृत साहित्य, तंत्र-ग्रंथ, जैन और बौद्ध अपभ्रंश-ग्रंथ, अभी केवल शुरू किए गए हैं। श्रेडर ने जमकर परिश्रम न किया होता, तो संहिताओं का वह विपुल साहित्य विद्वन्मंडली के सम्मुख उपस्थित ही नहीं होता, जिसने बाद में सारे भारतवर्ष के साहित्य को प्रभावित किया है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा। इनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्ति-काल के साहित्य को समझ सकते हैं और न वीरगाथा या रीतिकाल को :

१. परवर्ती उपनिषदों का साहित्य।
२. जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य।
३. कश्मीर के शैवों और दक्षिण तथा पूर्व के तांत्रिकों का साहित्य।
४. उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथों का साहित्य।

५. वैष्णव आगम।

६. पुराण।

७. निबन्ध-ग्रन्थ।

८. पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध-वैष्णवों का साहित्य।

९. विविध लौकिक कथाओं का साहित्य।

जैन अपभ्रंश का विपुल साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। जितना भी यह साहित्य प्रकाशित हुआ है, उतना हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जोइन्दु (योगीन्द्र) और रामसिंह के दोहों के पाठक स्वीकार करेंगे कि क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या शैव (नाथ) सभी संप्रदायों में एक रूढ़ि-विरोधी और अन्तर्मुखी साधना का ताना-बाना दसवीं शताब्दी के बहुत पहले बँध चुका था। बौद्ध अपभ्रंश के ग्रन्थ भी इसी बात को सिद्ध करते हैं। योग-प्रवणता, अन्तर्मुखी साधना और परम प्राप्तव्य का शरीर के भीतर ही पाया जा सकना इत्यादि बातें उस देशव्यापी साधना का केन्द्र थीं। यही बातें आगे चलकर विविध निर्गुण संप्रदायों में अन्य भाव से स्थान पा गईं। निर्गुण-साहित्य तक ही यह साहित्य हमारी सहायता नहीं करेगा, काव्य के रूपों के विकास और तत्कालीन लोक-चिन्ता का भी उससे परिचय मिलेगा। राहुल जी जैसे विद्वान तो स्वयंभू की रामायण को हिन्दी का सबसे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं। यद्यपि वह अपभ्रंश का ही काव्य है, परन्तु महापुराण आदि ग्रन्थों को जिसने नहीं पढ़ा, वह सचमुच ही एक महान् रस-स्रोत से वंचित रह गया। रीतिकाल के अध्ययन में भी यह साहित्य सहायक सिद्ध होगा।

कश्मीर का शैव-साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करता है। यद्यपि श्री जगदीश बनर्जी और मुकुन्दराम शास्त्री आदि विद्वानों के प्रयत्न से वह प्रकाश में आया है फिर भी उसकी ओर विद्वानों का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नहीं गया है। हिन्दी में पं० बलदेव उपाध्याय ने इसके और तंत्रों के तत्त्ववाद का संक्षिप्त रूप में परिचय कराया है, पर इस विषय पर और भी पुस्तकें प्रकाशित होनी चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि उत्तर का अद्वैत मत दक्षिण के परशुराम कल्प-सूत्र के सिद्धान्तों से अत्यधिक मिलता है। साधना की अन्तःप्रवाहित भावधारा ने देश और काल के व्यवधान को नहीं माना।

हिन्दी में गोरख-पंथी साहित्य बहुत थोड़ा मिलता है। मध्य-युग में मत्स्येन्द्र नाथ एक ऐसे युग-संधि काल के आचार्य हैं कि अनेक सम्प्रदाय उन्हें अपना सिद्ध

आचार्य मानते हैं। हिन्दी की पुस्तकों में इनका नाम 'मछन्दर' आता है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में इसका 'शुद्धीकृत' संस्कृत रूप ही मिलता है। वह रूप है 'मत्स्येन्द्र'। परन्तु साधारण योगी मत्स्येन्द्र सुधारक योगियों की इन 'अशिक्षितों' की यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं लगी (योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृष्ठ-४४८—४९)। परन्तु हाल की शोधों से ऐसा लगता है कि 'मछन्दर' नाम काफ़ी पुराना है और शायद यही सही नाम है। मत्स्येन्द्र (मच्छन्द्र) की लिखी हुई कई पुस्तकें नेपाल दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। इनमें से एक का नाम 'कौल ज्ञान निर्णय' है। इसकी लिपि को देखकर स्व० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह पुस्तक सन् ई० नवीं शताब्दी की लिखी हुई है (नेपाल सूचीपत्र द्वि० भाग, पृ० १९)। हाल ही में डा० प्रबोधचन्द्र बागची महोदय ने उस पुस्तक को मत्स्येन्द्र नाथ की अन्य पुस्तकों (अकुल वीर तन्त्र, कुलानन्द और ज्ञान-कारिका) के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की पुष्पिका में मच्छदन, मच्छन्द आदि नाम भी आते हैं। परन्तु लक्ष्य करने की बात यह है कि शैव दार्शनिकों में श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपात्मक अर्थ समझाकर उसकी व्याख्या भी की है। उनके मत से वे आतान-वितान कृत्यात्मक जाल को बताने के कारण मच्छन्द कहलाए। (तन्त्रालोक पृष्ठ २५), और तंत्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार मच्छ चपल चित्त-वृत्तियों को कहते हैं। उन चपल वृत्तियों का छेदन किया था इसीलिये वे मच्छन्द कहलाये। कबीरदास के सम्प्रदाय में आज भी मत्स्य, मच्छ आदि का सांकेतिक अर्थ 'मन' समझा जाता है (देखिये कबीर बीजक पर विचारदास की टीका, पृष्ठ ४०)। यह परम्परा अभिनवगुप्त तक जाती है। उसके पहले भी नहीं रही होगी, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है। अधिकतर प्राचीन बौद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किए जा सकते हैं कि प्रज्ञा ही मत्स्य है (जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, जिल्द २६, १९३० ई० नं० १ टुची का प्रबन्ध)। इस प्रकार यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्र नाथ की जीवितावस्था में रूपक के अर्थ में उन्हें मच्छन्द कहा जाना नितान्त असंगत नहीं है। इन छोटी-छोटी बातों से पता चलता है कि उन दिनों की ये धार्मिक साधनाएँ कितनी अन्तःसम्बद्ध हैं।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भक्ति-साहित्य का अध्ययन अब भी बहुत उथला ही हुआ है। सगुण और निर्गुण धारा के अध्ययन से ही मध्ययुग के मनुष्य

को अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवत्प्रेम मध्ययुग की सबसे जीवन्त प्रेरणा रही है। यह भगवत् प्रेम इंद्रिय-ग्राह्य विषय नहीं है और मन और बुद्धि के भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है। तर्क वहाँ तक नहीं पहुँच सकता, परन्तु फिर भी इस तत्त्व को अनुमान के द्वारा समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है और उन आचरणों की तो विस्तृत सूची बनाई गई है जिनके व्यवहार से इस अपूर्व भागवत रस का आस्वादन हो सकता है। आगमों में से बहुत कम प्रकाशित हुए हैं। भागवत् के व्याख्यापरक संग्रह ग्रन्थ भी कम ही छपे हैं। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को आश्रय करके भक्ति-शास्त्र का जो विपुल साहित्य बना है, उसकी बहुत कम चर्चा हुई है। इन सबकी चर्चा हुए बिना और इनको जाने बिना मध्ययुग के मनुष्य को ठीक-ठाक नहीं समझा जा सकता।

तान्त्रिक आचारों के बारे में हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकें एकदम मौन हैं, परन्तु नाथ-मार्ग का विद्यार्थी आसानी से उस विषय के साहित्य और आचारों की बहुलता लक्ष्य कर सकता है। बहुत कम लोग जानते हैं कि कबीर द्वारा प्रभावित अनेक निर्गुण सम्प्रदायों में अब भी वे साधनाएँ जी रही हैं जो पुराने तान्त्रिकों के पंचामृत, पंचपवित्र और चतुश्चन्द्र की साधनाओं के अवशेष हैं। यहाँ प्रसंग नहीं है इसीलिये इस बात को विस्तार से नहीं लिखा गया, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हमारे इस साहित्य के माध्यम से मनुष्य को पढ़ने के अनेक मार्गों पर अभी चलना बाकी है।

कबीरदास के बीजक में एक स्थान पर लिखा है 'ब्राह्मन, वैस्नव एक हि जाना' ( १२ वीं ध्वनि )। इससे ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण और वैष्णव परस्पर विरोधी मत हैं। मुझे पहले-पहल यह कुछ अजीब बात मालूम हुई। ज्यों-ज्यों मैं बीजक का अध्ययन करता गया, मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि बीजक के कुछ अंश पूर्वी और दक्षिणी बिहार के धर्म-मत से प्रभावित हैं। मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव संप्रदाय उन दिनों उस प्रदेश में अवश्य रहा होगा जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते होंगे। श्री नगेन्द्र नाथ बसु ने उड़ीसा के पाँच वैष्णव कवियों की रचनाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि ये वैष्णव कवि वस्तुतः माध्यमिक मत के बौद्ध थे और केवल ब्राह्मण-प्रधान राज्य के भय से अपने को वैष्णव कहते रहे। यहाँ प्रसंग केवल यह है कि हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन अनेक लुप्त और सुप्त मानव चिन्ता-प्रवाहों का परिचय दे सकता है। केवल पुस्तकों की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। मनुष्य-

समाज बड़ी जटिल वस्तु है। साहित्य का अध्ययन उसकी अनेक गुत्थियों को सुलझा सकता है।

परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक हैं विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और साधारण जनता में प्रचलित दंत-कथाएँ। इनसे हम इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसंगों का ही परिचय नहीं पायेंगे, मध्य-युग के साहित्य को समझने का साधन भी पा जाएंगे। झारखंड, उड़ीसा तथा पूर्वी मध्य प्रान्त की अनेक प्रचलित दन्त-कथाएँ उन अनेक गुत्थियों को सुलझा सकती हैं, जो कबीर पंथ की बहुत दुरूह और गूढ़ बातें समझी जाती हैं। इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। विभिन्न आँकड़ों और नृतत्व-शास्त्रीय पुस्तकों में इतस्ततः विक्षिप्त बातों का संग्रह भी बहुत अच्छा नहीं हुआ है। ये सभी बातें हमारे साहित्य को समझने में सहायक हैं। इनके बिना हमारा साहित्यिक ज्ञान अधूरा ही रहेगा।

विक्रम के प्रथम सहस्राब्द के बाद की धर्म-साधना का जो रूप हमारे साहित्य में उपलब्ध है उसका अध्ययन बहुत सहज नहीं है। प्रथम सहस्राब्द में समूचा उत्तर भारत सुदूर कामरूप तक अधिकांश में आर्य भाषा-भाषी हो चुका था। हमारे पास जो लिखित साहित्य विद्यमान है वह आर्य भाषा का साहित्य है। आर्यों के इस देश में आने के पहले जो अनेक आर्येतर मानव-मंडलियाँ (एथ्निक ग्रप्स) इस देश में बसी हुई थीं, उनकी भाषा भी भिन्न थी और धार्मिक विश्वास भी आर्यों के विश्वास से भिन्न थे। इसमें संदेह नहीं कि आर्यों की भाषा, धर्म-साधना और रीति-नीति को इन पूर्ववर्ती जातियों ने प्रभावित किया था और आर्यों की भाषा और साहित्य में इन जातियों की कुछ न कुछ बातें आज भी बची रह गई हैं; पर आज यह बता सकना बड़ा कठिन है कि इसमें कौन-सा आर्येतर विश्वास किस आर्य-पूर्व जाति की देन है। ये जातियाँ बराबर तुच्छ समझी गईं और गर्वीली आर्य जाति ने इनसे कुछ लिया भी है तो इस प्रकार अपना लेने का प्रयत्न किया है कि उनके पहचानने का काम बहुत आसान नहीं रह गया है। भाषा के भीतर से कभी-कभी ऐसे निश्चित प्रमाण मिल जाते हैं जिससे किसी शब्द के किसी आर्येतर विश्वास का निदर्शक होने का प्रमाण मिल जाता है। अभी तक ये बातें अधिकांश मे अनुमान और ऊहा का विषय रही हैं। पर ज्यों-ज्यों संस्कृत के पुराणों, तंत्रों, पांचाराम संहिताओं और देशी भाषा के साहित्य का अध्ययन होता जा रहा है, इन आर्य-पूर्व विश्वासों के अध्ययन में भी व्यवस्था आती जा रही है। वैसे तो, विक्रम के प्रथम सहस्राब्दक में भी और उसके पूर्व भी, इस प्रकार के आदान के प्रमाण मिल जाते रहे हैं पर उन

दिनों अधिकांश आर्येतर जातियों के आर्य भाषा-भाषी न होने के कारण हम इस विषय में कुछ भी नहीं जान पाते कि उनके धर्माचार्यों और संतों के विचार कैसे थे और जीवन को उन्होंने किस दृष्टि से देखा था।

विक्रम के प्रथम सहस्राब्दक में धीरे-धीरे आर्येतर मानव-मंडलियाँ भी आर्य भाषा-भाषी होने लगीं, और इस सहस्राब्दक के अन्त तक काम-रूप तक समूचा उत्तरी भारत आर्य भाषा-भाषी हो गया। कुछ थोड़ी-सी आस्ट्रोएशियाई श्रेणी की जातियाँ (मुंडा, संथाल, खासी) आदि अब भी अपनी-अपनी भाषाएँ बचाए हुए हैं पर इस स्वभाषा-रक्षण के लिए उन्हें जंगलों और पहाड़ों की दुर्गम भूमि की शरण जाना पड़ा है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों आर्येतर जातियाँ भी आर्य-भाषाओं के लोक-प्रचलित रूप में अपनी बातें कहने लगीं। यद्यपि इसका भी अधिकांश लुप्त हो गया है पर वज्रयानी, सहजयानी और नाथ-सिद्धों में ऐसी अनेक जातियों के विचारक नेताओं की बात लोक-भाषा के माध्यम से सुनने को मिल जाती हैं जो इसके पहले उपेक्षित रही हैं। इनमें कोरी हैं, ताँती हैं, गड़रिए हैं, मछुए हैं, तमोली हैं और ऐसी ही और भी अनेक मानव-मंडलियाँ हैं। विक्रम की आठवीं शती के आसपास से इनकी वाणी हमें सुनाई देने लगती है। इसी समय संस्कृत में एक ऐसा साहित्य पाया जाता है जिसमें वेद-विरोधी और ब्राह्मण-विरोधी स्वर काफ़ी प्रबल होकर सुनाई देता है। इन दिनों जहाँ एक ओर वेद को अविसंवादी प्रमाण मानने की प्रवृत्ति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी, यहाँ तक कि अपने विरोधी को अवैदिक कह देना उसे नीचा दिखाने के लिये पर्याप्त माना जाने लगा था, वहीं दूसरी ओर कापालिकों तथा तान्त्रिकों और पाशुपतों के अनेक मत खुल्लमखुल्ला वेद और ब्राह्मण की अप्रामाणिकता घोषित करते थे। प्रतिक्रिया की मात्रा इतनी तीव्र थी कि ये लोग मामूली बात को भी ऐसी भड़का देने वाली और धक्कामार भाषा में कहते थे जो सुनने वाले को हठात् वेद-विरोधी सुनाई दे, यद्यपि सब समय उसका पारमार्थिक अर्थ वेद-विरोधी ही नहीं हुआ करता था। इसके लिये नये पारिभाषिक शब्द रचे गए, सांवृतिक और पारमार्थिक परिभाषाओं का जाल तैयार किया जाने लगा। एक उदाहरण काफ़ी होगा। साधक को कहना है कि जिह्वा को तालु में उलटकर ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाना चाहिए और तालु देश-स्थित चन्द्र से नित्य झरते रहने वाले अमृत को पीना चाहिए। ऐसा करने वाला साधक जरा-मृत्यु को जीत लेता है और जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपनी गुरु-परम्परा को क्षति पहुँचाता है। इस बात को इस प्रकार धक्कामार ढंग से कहने

की प्रथा चल पड़ी थी—नित्य गोमांस का भक्षण करना चाहिए और अमर मदिरा का पान करना चाहिए। जो ऐसा करता है वही कुलीन है, बाकी योगी तो कुल-घातक हैं।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमर वारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः।

—हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ३, ४६

जहाँ से यह श्लोक लिया गया है, वहीं इसकी व्याख्या भी दी हुई है, पर यह सौभाग्य कम स्थलों पर मिलता है। अधिकांश में आपको इस धक्कामार भाषा से शुरू-शुरू में लड़खड़ा जाना पड़ेगा।

संस्कृत के पुराणों में भी ऐसे अनेक आचार्यों और देवताओं आदि के नाम और कथाएँ पाई जाती हैं जो अभूत-पूर्व हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अधिक विकसित बुद्धि वाली जातियाँ संस्कृत के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करने लगी थीं। परन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि बहुत थोड़ी जातियाँ ऐसी थीं जो इतनी योग्य हो सकी होंगी। अधिकांश जातियाँ तो अक्षर-ज्ञान से भी अनभिज्ञ रही होंगी। उन्हें अपने मनोभावों को प्रकट करने का मौका केवल लोक-भाषा के द्वारा ही मिल सकता था। परन्तु जब तक ये जातियाँ आधुनिक आर्य-भाषाओं के प्राचीनतम रूप में कहने योग्य स्थिति में पहुँची तब तक इन पर आर्य रंग बहुत अधिक चढ़ चुका था। यही काल हमारे अध्ययन का विषय है। संस्कृत में इस काल का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है वह आंशिक रूप में ही हमारी सहायता कर सकता है। उसके अध्ययन का सबसे बड़ा साधन है देशी भाषाओं का विशाल साहित्य। जिसके केवल संकीर्ण अंशों की जानकारी ही हमें प्राप्त हो सकी है। न तो इस विशाल साहित्य को अविच्छिन्न और परिपूर्ण रूप में अध्ययन करने का कोई प्रयत्न ही हुआ है और न विच्छिन्न और अपरि-पूर्ण रूप में जो प्रयत्न हुए हैं, उन्हें ही किसी एक केन्द्रीय भाषा के माध्यम से उपलब्ध करने का कोई प्रयास हुआ है। इधर देशी भाषाओं के साहित्य की कुछ खोज-खबर लेने का प्रयत्न भी हुआ है तो अत्यन्त आधुनिक काल में सीमित रखकर। यहाँ मैं अत्यन्त क्षोभ के साथ आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारी संस्कृति के पूर्ण अध्ययन के मार्ग में यह कठिनाई बहुत बाधक है।

जब कभी मैं हिन्दी के भक्ति-साहित्य के विषय में लिखने या बोलने का संकल्प करता हूँ तभी मेरे मन में अनेक प्रश्न ऐसे उठते हैं जो साधारणतः साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत नहीं माने जाते। परन्तु मेरे निकट उन छोटी से छोटी बातों का भी बड़ा मूल्य होता है जो मनुष्य को समझने में थोड़ी-सी

सहायता करती हों। जब मनुष्य की भाषा में, धर्म में, रीति-रस्म में ऐसा कोई छोटे से छोटे शब्द भी मिल जाता है जो मनुष्य के निरन्तर ग्रहणशील और उदार रूप का परिचय दे जाता है तो मेरा चित्त उल्लसित हो उठता है और मुझे यह कहने में थोड़ी भी झिझक नहीं कि हमारी हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य में ऐसे एक नहीं, अनेक शब्द हैं। कभी-कभी वे एक ही झटके में मुझे अतीत के मनुष्य के आमने-सामने खड़ा कर देते हैं और कभी मेरी अल्पज्ञता को ऐसे नग्न रूप में प्रकट कर देते हैं कि मैं बहुत जल्दी समझ जाता हूँ कि दुनिया काफ़ी बड़ी है और मेरे मित्रो, मनुष्य इतना ही समझ जाय तो क्या कम है? मुझे यह बताने में एक रोमांचकारी उल्लास अनुभव होता है कि हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी ऐसे अनेक शब्दों और अर्थों से बराबर टकराता है जो उसे अनुभव करा देते हैं कि जाति-पाँति के बंधनों के होते हुए भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही है, वह न लेने में संकोच करता है न देने में, वह जम के प्रभावित करता है और जम के प्रभावित होता है। हमारे साहित्य के बाहर पड़े हुए ग्राम्य-देवता, अपरिचित रीति-नीति, उपेक्षित पूजा-पार्वण, हमें मनुष्य को इस अनावृत निर्विशिष्ट रूप में दिखाने में अद्भुत सहायता पहुँचाते हैं। संवरू और लोरिक, जटहवा बाबा और लोटा भैरव, त्रिलोकी नाथ और बजरेसरी माता हमें अनेक तथ्यों से परिचित करा सकती हैं, अतीत और वर्तमान के मनुष्य को उसके जाति-धर्म निर्विशिष्ट रूप में प्रत्यक्ष करा सकती हैं।

अब आपको यह बात काफ़ी कुतूहलजनक जँचेगी कि धर्म शब्द के मूल रूपों में से एक ऐसा भी है जो कछुए का वाचक है। संस्कृत में धर्म शब्द काफ़ी पुराना है और उसके अर्थ भी अनेक तरह के हैं। उन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। हाल ही में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने, 'वी० सी० ला वाल्यूम' भाग १ में दिखाया है कि 'धर्म शब्द' का इन कथाओं में जिस प्रकार प्रयोग हुआ उसका मूल रूप आस्ट्रो-एशियाई भाषाओं से लिया गया होगा। इस श्रेणी की सभी भाषाओं में 'दुर' 'दर' 'दुल' जैसे शब्द कछुए के वाचक हैं, बौद्ध सिद्धों के गान में भी 'दुली' शब्द का प्रयोग कछुए के अर्थ में हुआ है और अशोक के शिला-लेखों में भी। संस्कृत के कोशों में भी इस शब्द को स्थान मिल चुका है। डा० चटर्जी ने दिखाया है कि कोल भाषाओं में 'ओम्' जैसा एक स्वार्थक प्रत्यय होता है। 'दुलोम' 'दरोम' या 'दुरोम' भी कछुए के ही वाचक होंगे। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो पुराने धर्म के साथ मिलाकर एक कर लिया गया है। सुना है पुरुलिया जिले के कुछ निम्नतर श्रेणी के लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण किया है। वे अपने को रोमाई कार्तिक के अनुयायी कहते हैं। कार्तिक या कार्ति-

केय बंगाल में दुर्गापूजा के अवसर पर पूजे जाते हैं। कैथोलिक शब्द के संस्कृतायित रूप 'कार्तिक' के साथ-साथ उनको स्मरण कर लिया गया है। रोमन कैथोलिक 'रोमाई कार्तिक' हो गया। यह धर्म भी कुछ ऐसा ही होगा। सो यदि भाषा-विज्ञानी की बात ठीक है तो हम इस नतीजे पर आसानी से पहुँच सकते हैं कि धर्म-पूजा विधान कोल जातियों के धार्मिक विश्वासों का बौद्ध प्रभावित आर्य-भाषापन्न रूप होगा। मध्य एशिया में सरबुजा पीर को देखकर श्री वज्र (बुद्ध) की उपासना का मूल उत्स मालूम हो जाता है, सेंट जान की लिखी ग्रीक कथा के ढांचे और 'इग्रो आसफ' (युदासाफ वुदासफ वोधिसत्व[1]) नाम देकर इसके मूल रूप का आभास मिल जाता है, उसी प्रकार इस 'धर्म' शब्द की भाषा शास्त्रीय जानकारी से भी हमें पुराने विस्मृत काल का एक हल्का आभास मिल जाता है। शुरू-शुरू में म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने उसे बौद्ध-धर्म का भग्नावशेष समझा था। उनका समझना ठीक भी था, क्योंकि सचमुच ही इसमें बौद्ध प्रभाव है भी, परन्तु शास्त्री जी को पता नहीं था, कि उन्हें इस धर्म-मत का केवल एक ही अध्याय मालूम है, उसका दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण अध्याय कबीर-पंथी साहित्य में है। वहाँ इसपर वैष्णव रंग चढ़ गया है। जब तक हिन्दी के इस उपेक्षित साहित्य का अच्छा अध्ययन नहीं किया जाएगा, तब तक इस विशाल धर्म-मत का अध्ययन अधूरा ही रह जाएगा। मैं विशाल शब्द का प्रयोग खूब सोच-समझकर कर रहा हूँ। हमारी संस्कृति में धर्म-विश्वास की बहुत बड़ी देन का प्रमाण खोजना कठिन नहीं है। केवल इतना ध्यान में रखने की बात है कि हमारा मध्ययुगीन साहित्य हिन्दी, बँगला, उड़िया आदि की संकीर्ण सीमाओं में बाँटकर नहीं देखा जा सकता। वह भारतीय संस्कृति की भाँति ही एक और अविभाज्य है। जो लोग आज प्रादेशिक संकीर्णता से आशंकित हैं वे इस सांस्कृतिक एकता की ओर जन-चित्त को जागरूक करके अच्छा फल पाने की आशा कर सकते हैं।

अभी शून्य-पुराण की जिस कहानी की चर्चा हुई है, उसमें धर्म और कर्म के अतिरिक्त निरंजन देवता के दो सहायकों का नाम आता है। एक हैं हंस दूसरे हैं उलूक। 'हंस' का कबीरपंथी साहित्य में अर्थ है निरंजन के जाल से मुक्त शुद्ध जीव। क्यों और कैसे यह अर्थ बदला इसकी कथा यद्यपि बहुत मनोरंजक है तो भी मैं इस ओर आपका ध्यान नहीं बटाऊँगा। कूर्म का स्थान तो हिन्दू-धर्म में भी काफ़ी ऊँचा है। उन्हें विष्णु के दस अवतारों में गिना गया है। भू-भार को धारण करने वाले कोल कमठ भी हिन्दुओं में आदर के पात्र हैं। मैं

---

१. दे० विश्वभारती पत्रिका खं० ४, अं० ४ में डा० पुरुषोत्तम विश्वनाथ बापट का लेख।

ठीक नहीं कह सकता कि इन विश्वासों का सम्बन्ध उस जाति-धर्म विश्वासों से संबद्ध है या नहीं जिसकी चर्चा अभी की जा चुकी है। शायद हो, शायद न हो। यह अवश्य स्मरणीय है कि किसी समय 'हंस' को भी विष्णु के दस अवतारों में माना जाता था। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में प्रथम अवतार हैं हंस और दूसरे कूर्म—

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम।
वाराहो नारसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कालिकरेव च॥

शान्ति पर्व ३३९.३०

इन अवतारों में बुद्ध का नाम नहीं है। दो व्याख्याएँ संभव हैं। या तो हंस को अवतार मानने का विश्वास बुद्ध से भी पूर्व का है, या फिर बुद्धोत्तर कठोर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया के काल से संबद्ध है। मुझे हंस की महिमा का विश्वास काफ़ी पुराना जान पड़ता है।

कूर्म और हंस की चर्चा तो हमें अन्यत्र काफ़ी मिल जाती है पर ये उलूक मुनि कौन हैं? शून्य पुराण वाली कहानी का झुकाव विष्णु से अधिक शिव की ओर है, इतना तो स्पष्ट है। कबीर पंथ का झुकाव विष्णु की ओर अधिक है। महादेव दास इत्यादि उड़िया भक्त भी वैष्णव हैं। सबने उलूक मुनि की उपेक्षा की है। यह ऐसा क्यों हुआ?

उलूक मुनि भी भारतीय साहित्य में नितान्त अपरिचित नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उनको पहचानने की कोशिश बहुत कम की गई है। महाभारत (सभापर्व २७. ५) में लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश को जय करने गए तो उलूक नाम की एक जाति से उनकी मुठभेड़ हुई थी। संभवतः यह उल्लू 'टोटेम' वाली कोई मानव-मंडली (एथ्निक ग्रुप) रही हो। वैसे शकुनि के एक भाई का नाम भी उलूक था। शकुनि (गिद्ध) के भाई का नाम उलूक (उल्लू) होना बहुत बेतुका नहीं है, ऐसा हुआ ही करता है। पर अगर शकुनि मनुष्य थे तो उनके भाई भी मनुष्य ही रहे होंगे। और उन दिनों जाति और देश के नाम से उनके अधिपतियों को पुकारने की प्रथा थी। कोशल का अर्थ कोशल देश का राजा या मुखिया भी हो सकता है और भद्र का अर्थ भद्र जाति या देश का सरदार भी। शकुनि और उलूक भी ऐसे ही नाम जान पड़ते हैं। शकुनि गांधार की ओर से आए थे, इसलिये मान लिया जा सकता है कि उलूक लोग भी कहीं उधर के ही रहे होंगे। यह अनुमान एकदम बेबुनियाद नहीं कहा जाएगा। मैं तो निश्चित और प्रौढ़ प्रमाणों के आधार पर बात करने का पक्षपाती हूँ।

अनुमान के आधार पर तो एक मसखरे ने उच्चारण-साम्य का सहारा लेकर 'लंडन' को 'नन्दन' वन ही साबित कर दिया था। अस्तु। यह हो सकता है कि उलूक जाति के श्रेष्ठ मनीषियों को सामूहिक रूप में उलूक कहा जाता हो। परन्तु व्यक्ति के रूप में भी उलूक मुनि बहुत पुराने काल से परिचित हैं। पाणिनि को इनका नाम निश्चित रूप से मालूम था क्योंकि गर्गादिगण (४. १. १०५) में उलूक का नाम आता है। सर्वदर्शन-संग्रह में कणाद दर्शन को औलूक्य दर्शन कहा गया है। टीकाकार ने इस नाम के दो हेतु बताए हैं एक तो यह कि शायद कणाद उलूक ऋषि के वंशज थे, दूसरा यह कि शिवजी ने ही उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि को छह पदार्थों का ज्ञान सुझाया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन तो प्रसिद्ध ही है। सर्वदर्शन-संग्रह में किसी प्राचीनतर ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसमें कहा गया है कि जिस दिन मनुष्य आकाश को इस प्रकार ढक लेगा जिस प्रकार चमड़े से कोई बर्तन ढक दिया जाता है उसी दिन मनुष्य शिव को जाने बिना भी दुःख का अन्त पा लेगा।

यदा चर्मवदाकाशं छादयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं भविष्यति ॥

इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शिव को जाने बिना दुःख की निवृत्ति असंभव है। इससे शिव के सम्बन्ध में पाशुपत मतावलंबियों की दृढ़ निष्ठा का अनुमान होता है। संस्कृत में उलूक का एक पर्याय कौशिक भी है। एक मुनि का नाम भी कौशिक है। जब एक ही भाषा में एक ही शब्द के दो या अधिक ऐसे अर्थ प्रचलित हों जिनका निकट का कोई सम्बन्ध न हो तो इस बात की संभावना हुआ करती है कि ये दो विभिन्न मूलों से आए होंगे, या फिर दो कालों में अलग-अलग परिस्थितियों में व्यवहृत होने के कारण उनके अर्थ बदल गए होंगे, या फिर यह भी सम्भव हो सकता है कि वे दो विभिन्न दृष्टिकोण के संप्रदायों में व्यवहृत होने के कारण भिन्नार्थक हो गए हैं। यही साधारण नियम है। अपवाद भी होते ही होंगे।

इस प्रसंग में एक बात और स्मरणीय है। बुद्ध के युग में उनसे पूर्व के चले हुए छह मतों का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मजाल सुत्त में तो बासठ पंथों का उल्लेख है, पर विद्वानों ने उसे परवर्ती और काल्पनिक बताया है। अन्य सुत्तों में छह मतों का ही उल्लेख है। इनमें प्रथम संघ के आचार्य पूरण काश्यप, द्वितीय के मक्खलि गोसाल, तृतीय के अजित केस कंबली, चतुर्थ के पकुध कात्यायन पंचम के निगंठ नाथ पुत्त, और छठे के आचार्य संजय बेलट्ठ-पुत्र थे। चौथे संघ के

आचार्य का नाम 'पकुध' कुछ विचित्र-सा है। ये मानते थे कि पदार्थ सात हैं। (१) पृथ्वी, (२) अप (जल), (३) तेज, (४) वायु, (५) सुख, (६) दुःख और (७) जीव। ये सातों पदार्थ न किसी ने किए, न करवाए। ये वंध्य कूटस्थ तथा स्तंभ के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, एक दूसरे को कष्ट नहीं देते तथा परस्पर को प्रमाणित नहीं करते। इनमें भरने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला, कोई नहीं है। जो तेज़ शस्त्रों से दूसरों का सिर काटता है वह कोई हत्या नहीं करता। तथ्य केवल इतना ही है कि उसका शस्त्र सात पदार्थों के अवकाश में घुस जाता है, बस इतना ही। इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान वैशेषिक मत कुछ इसी प्रकार के मत का विकसित रूप हो सकता है। यदि वैशेषिक मत ही पाशुपत मत हो तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि 'पकुध और' लकुलि' में कोई सम्बन्ध है कि नहीं। होना असंभव नहीं है।

अब कौशिक शब्द का उल्लू अर्थ कैसे हो गया यह विचार्य है। परम्परा भूल जाने पर विरोधी सम्प्रदायों के नाम का हास्यास्पद अर्थ करके लोक-चक्षु में हीन कर देना नयी बात नहीं है, अपरिचित भी नहीं है। बौद्धों का वैभाषिक सम्प्रदाय बड़े समृद्ध दार्शनिक मत का पोषक था। सर्वदर्शन संग्रह में माधवाचार्य ने इसका अर्थ 'उलट-पलटा बोलने वाला' कर दिया है। यहाँ 'विभाषा' का अर्थ ऊटपटाग भाषा मान लिया गया है। परन्तु इसका मूल अर्थ था, विभाषा (विशिष्ट भाषा, विशिष्ट भाष्य) को मानने वाला सम्प्रदाय। चीनी भाषा में आज भी 'पूटी विभाषा' पड़ी हुई है। इस टीका को लिखने के लिये सम्राट् कनिष्क के संरक्षण में एक विद्वत्सभा का संघटन हुआ था। सुप्रसिद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोष इस समिति के प्रमुख सदस्य थे। 'कुणप' शब्द का अर्थ बाद में राक्षस मान लिया गया था पर हाल के अनुसंधानों से मालूम हुआ है कि यह वस्तुतः उस शब्द का संस्कृत रूपान्तर होगा, जिसका आधुनिक हिन्दी रूपान्तर 'गोंड़' है और इस देश के एक बहुत शक्तिशाली पुराने अधिवासी इस शब्द के वाच्य रहे होंगे। उदाहरण और भी बढ़ाया जा सकता है पर आवश्यकता नहीं है। इस कौशिक मुनि का इतिहास भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। वस्तुतः उलूक लोग लाकुलीश पाशुपत मतावलम्बी थे। लाकुलीश के शिष्य का नाम कुशिक था। इनके नाम पर ही समूचा उलूक सम्प्रदाय कौशिक कहलाता है। लाकुलीश के नाम पर इस सम्प्रदाय का नाम लाकुल पड़ा है। कालक्रम से कौशिक का वास्तविक अर्थ तो भुला दिया गया, पर यह परम्परा बची

रही कि कौशिक उल्लू को कहते हैं। भांडारकर ने अनेक प्रशस्तियों के अध्ययन के से देखा था कि सन् ६४३ से आरम्भ करके सन् १२८५ ई० की प्रशस्तियों में शैव मात्र को लाकुलीश कहा गया है।[1] सन् १२८७ ई० का एक लेख सोमनाथ में पाया गया है जिसमें लाकुलीश के साथ गोरखनाथ का भी नाम है।[2] इस चित्र-प्रशस्ति के लेखक उलूकराज हैं। भांडारकर का कहना है कि शिव के एक अवतार का नाम उलूक था और इस प्रशस्ति के उलूकराज ऐसे ही कोई व्यक्ति होंगे।

मैं चाहता हूँ कि इन लाकुलीश पाशुपतों के बारे में आपको थोड़ा और उलझा रखूँ। लकुलीश, लाकुलीश, नकुलीश आदि एक ही व्यक्ति के नाम हैं। इस एक ही शब्द के अनेक रूप देखकर ही ऐसा लगता है कि यह शब्द किसी आर्येतर भाषा के शब्द का रूपान्तर है। लाकुलीश या नकुलीश का मत काफ़ी पुरांना है। लकुलीश शिव की लकुल या लकुट (लाठी) धारण करने वाली अनेक पुरानी मूर्तियाँ राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि की ओर पाई गई हैं। इन मूर्तियों की बाह्य वेश-भूषा भी उन्हें अन्य मूर्तियों से स्पष्ट रूप से अलग कर देती है। माथे पर घना केश-कलाप, एक हाथ में बीजपूरक का पुन्य और दूसरे में लगुड़ (लाठी)। इन मूर्तियों की विशिष्टता है। लकुली, लगुली, या लगुडी (लाठी) धारण करने के कारण ही यह देवता लकुलीश कहे जाते हैं। कहते हैं मथुरा में कोई शैव स्तम्भ आविष्कृत हुआ है जिसमें उत्कीर्ण लेख के अध्ययन से पता चलता है कि इसका समय विक्रम से दो सौ वर्ष बाद है।[3] कहा जाता है इसी काल में हुविष्क के सिक्कों पर लकुटधारी शिव की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। मुझे मथुरा के शैव स्तम्भ वाले लेख को देखने का मौका नहीं मिला है मगर यदि यह सत्य है कि एक ही काल में उनका मनुष्य-रूप में आविर्भाव भी हुआ और देवता-रूप में सिक्कों पर स्थान भी मिला तो साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिये यह बात बहुत विश्वसनीय नहीं रह जाती।

अब यह जो लकुलि, लगुलि, लकुटि आदि एक ही शब्द के अनेक रूप हैं वही यह सोचने को मजबूर करते हैं कि यह शब्द संस्कृत में कहीं बाहर से आया है। शायद ये किसी आर्येतर शब्द के आर्यों द्वारा गृहीत रूप हैं। यदि हमें इनके मूल उत्स का पता चल जाय, तो इस धर्म-विश्वास के आदिम रूप

---

१. जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई शाखा, जिल्द २२, पृष्ठ १२१।

२. ब्रिग्स, गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज पृष्ठ, ४२०।

३. विश्वभारती पत्रिका भाग १ में पं० बलदेव उपाध्याय ने इस विषय पर उत्कृष्ट लेख लिखा है।

के सम्बन्ध में भी सम्भवतः कुछ अनुमान लगा सकेंगे। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि लकुलीश पाशुपतों में बड़े शक्तिशाली मनीषी रहे होंगे। ये सिर्फ़ धार्मिक मतवाद के ही नहीं, दर्शन के क्षेत्र में भी अपनी महिमा प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुये थे। फिर भी हिन्दू पुराणों के विद्यार्थी को यह समझने के लिए कुछ विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा कि बहुत दिनों तक लाकुल पाशुपत अवैदिक मत के अनुयायी माने जाते रहे। कूर्म पुराण में तो कापालिक, लाकुल, वाम, भैरव आदि मतों को मोहशास्त्र बताया गया है।[1] इसी पुराण में अन्यत्र दो प्रकार के पाशुपत बताये गए हैं—वैदिक और अवैदिक। शंकराचार्य ने भी शारीरिक भाष्य में (अ० ३८ पृष्ठ ७४१) इन्हें वेद-बाह्य ही समझा था। ऐसा जान पड़ता है कि यह मूलतः आर्येतर धर्म-विश्वास था, पर विक्रम संवत् आरम्भ होने के आसपास अपने आप ही महिमा अनुभव कराने में समर्थ हो सका यद्यपि दीर्घकाल तक उसके अवैदिक रूप को लोग भुला नहीं सके।

प्रो० जीन प्रज्युलुस्की भाषाशास्त्र के बहुत मान्य विद्वान हैं। उनको ऊपर बताई बातों का कुछ पता नहीं था। उन्होंने स्वतन्त्र भाव से आस्ट्रो-एशियाई भाषाओं के अध्ययन के बाद दिखाया है कि प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं में कई शब्द ऐसे हैं जो मूल रूप में आस्ट्रो-एशियाई भाषाओं के शब्द हैं। बहुत प्राचीन काल में ही वे आर्य भाषाओं में गृहीत हो गए थे। और भी अनेक पंडितों ने, जिसमें प्रो० सिल्वां लेवी, डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, डा० प्रबोधचन्द्र बागची आदि प्रमुख हैं, इस विषय में नई बातों का पता लगाया है। प्रो० प्रज्युलुस्की ने दिखाया है लिंग, लांगल, लांगूल, लगुड, लकुट आदि शब्द आस्ट्रो-एशियाई भाषाओं से आर्य-भाषा में गृहीत हुये हैं।[2] उक्त पंडित ने

---

१. एवं संबोधितोरुद्रो माधवेन सुरारिणा ।
चकार मोहशास्त्राणि केशवो पि शिवेरितः ।
कपालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्व पश्चिमम् ।
पांचरायं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ।

कर्म पुराण, १६ अ०, पृष्ठ १८४

अन्यानि चैवशास्त्राणि लोकेऽस्मिन्मोहनावितु ।
वेदपाद विरुद्धाति मयेब कथिताविंतु ।
वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम् ।
असेव्यमेतत् कथितं वेद बाह्य मथेतरम् ॥

कर्म पुराण, उत्तर भाग, अ० ३८

२. डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित और अनुवादित 'प्रि आर्यन एंड प्रि-द्राविडियन इन इंडिया' पृष्ठ ८ १५।

बड़ी विद्वत्तापूर्वक दिखाया है कि किस प्रकार समूची योनख्मेर और कोल श्रेणी की भाषाओं में इन शब्दों का एक ही जैसा मूल प्राप्त हुआ है और किस प्रकार इनके अर्थ थोड़ा-थोड़ा अलग होते-होते वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं। यद्यपि आपको इस तथ्य के बल पर किसी नतीजे तक पहुँचने की ओर नहीं ले जाना चाहता, तथापि यहाँ यह स्मरणीय है कि लिंग-रूप में शिव की पूजा इस देश में काफ़ी परिचित और पुरानी घटना है, लकुटधारी शिव की चर्चा हमने अभी की है और यद्यपि संस्कृत के प्राचीनतर साहित्य में लांगूलधारी शिव का संधान हमें नहीं मिलता परन्तु हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को लांगूल रूप-धारी हनुमान की रुद्र-रूप में उपासना बहुत नई बात नहीं जँचेगी। परवर्ती काल में पंचमुख हनुमान की रुद्र-रूप में तान्त्रिक उपासना भी मिल जाएगी। तुलसीदास जी ने रुद्र रूप में हनुमान जी को स्मरण किया था :

जयति रनधीर रघुबीर हित देवतानि रुद्र अवतार संसार पाता।
विप्र सुर सिद्ध मुनि आशिषाकर वपुष विमल गुन बुद्धि बारिधि विधाता।।

और तान्त्रिक अभिचार के शामक के रूप में भी हनुमान जी की स्तुति की थी :

जयति परमंत्र जंयाभिचार प्रसन, कारमनि कूट कृत्यादि हन्ता।
साकिनी, डाकिनो, पूतना, बेताल प्रेत भूत प्रमथ जूथ जंता।।

जो लोग हिन्दी में ऐसी नई बात देखकर चौंकते हैं उन्हें अपना मत बदल लेना चाहिए। लिंग-पूजा और लकुलधारी शिव की उपासना जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी है लांगूलधारी शिव की पूजा भी। अन्तर केवल इतना ही है कि इनकी साहित्य में अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न काल में हुई है और अभिव्यक्ति-काल की बहुविधि विशेषताओं का प्रभाव किसी न किसी रूप में रह गया है। मेरे मित्र प्रो० प्रह्लाद प्रधान के कथनानुसार यहाँ यह जोड़ देना आवश्यक है कि लगुड और लांगूल के ही समान लांगलाधारी रुद्र का पता भी उड़िया कवि यशोवन्तदास के काव्य में मिलता है। इस स्थान पर मैं आपसे आग्रहपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे वक्तव्य का यह अर्थ न समझें कि मैं शैव या पाशुपत मत के आचार्यों को वेद-विरोधी या अब्राह्मण कह रहा हूँ। मेरा केवल इतना ही कहना है कि ये विश्वास बहुत पुराने हैं। इनके उपास्य देवता प्रवर्तक या व्याख्याता मुनियों के नाम में आर्येतर भाषा है, ऐसा तज्ज्ञ पंडितों का मत है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इस समय जिस रूप में ये मत उपलब्ध हैं वे पूर्णतः आर्येतर विश्वास हैं या वेद-बाह्य हैं। निस्संदेह अनेक बौद्धिक घात-प्रतिघातों और आर्य-विश्वासों के प्रभाव से इनकी कायापलट गई

है, पर मूलतः वे किसी आर्येतर जाति के विश्वास हैं और वह आर्येतर जाति आस्ट्रो-एशियाई मानव-मंडली में से कोई रही होगी। यह भी हो सकता है कि इनमें और भी किसी प्रबल मत का मिश्रण हो।

यह कोई अनहोनी बात नहीं है। मनुष्य अद्‌भुत ग्रहणशील प्राणी है। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार रीति-नीति, धर्म-विश्वास, सब कुछ ग्रहण कर लेता है। गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्र नाथ कहे जाते हैं, हिन्दी में इनका नाम 'मच्छन्दर नाथ' आता है। जान पड़ता है इसी शब्द को शुद्ध करके 'मत्स्येन्द्र' शब्द की रचना हुई। अभिनवगुप्तपाद ने तंत्रालोक में इनकी स्तुति मच्छन्द नाम से की है।

> रागारुणं ग्रंथि बिलावकीर्णं
> यो जाल मातान वितान वृत्ति।
> कालोम्भितं बाह्य पके चकार
> स्यान्मे स मच्छन्द विभुः प्रसन्नः।

इससे पता चलता है कि ईस्वी १०वीं शती में इनका नाम संस्कृत में भी 'मच्छन्द' ही था। 'हनुमन्त' भी संस्कृत में विशोधित होकर हनुमान बना है। इन वानर देवता की उपासना अति प्राचीन है और उतनी ही प्राचीन है लांगूली शिव या रुद्र की उपासना। दोनों ने कब मिलित होकर लांगूलधारी रुद्रावतार का रूप धारण कर लिया, कह सकना कठिन है। हाल के अनुसंधानों ने किसी-किसी पंडित को यह सोचने के लिये बाध्य किया है कि वस्तुतः आधुनिक गोंड ही रामायण युग के कुणप, कोण्डप हैं और आधुनिक ओरांव और शबर क्रमशः वानर और भालू हैं। भाषा-शास्त्र के आधार पर इन बातों की सचाई के प्रमाण संग्रह किए गए हैं और अन्य गवाहियों से भी इन तथ्यों का प्रमाणित होना बताया जाता है।[1] और कहा जाता है कि लंका कहीं अमरकंटक के पास ही थी।[2] स्वयं रुद्र शब्द भी उसी प्रकार द्राविड़ 'रुध्र' से संबद्ध बताया जाता है—[3] जिस प्रकार शिव और शंभु शब्द का क्रमशः द्राविड़ चिवन् (लाल), चेम्बु (ताम्र रक्त) शब्दों से। इस प्रकार केवल हनुमान के रुद्रावतार की कल्पना के मूल में पाई जाने वाली भाषा-शास्त्रीय गवाहियों पर ही ध्यान दिया जाय तो पता चलता है कि एकाधिक सांस्कृतिक वायुमंडल में पले हुए अनेक शब्दों

१. झा कमेमोरेशन वोल्यूम में डा० हीरालाल का 'दि सिचुएशन आफ रावणास् लंका'।
२. डॉ० सिल्वां लेवी का निबन्ध 'प्री आर्यन् एंड प्री-ड्रैविडियन।
३. बुद्धिस्ट सरवाइवल इन बेंगाल, पृष्ठ ७९।

से रस खींचकर यह विश्वास इतना शक्तिशाली हुआ है। इस पर वैदिक और तांत्रिक बुद्धिवादियों का जो रंग चढ़ा है उसे हम फ़िलहाल उचित अवसर के लिये छोड़ते हैं।

इस दृष्टि से देखें तो परवर्ती साहित्य को हम प्राचीनतर साहित्य का पूरक कह सकते हैं। अपभ्रंश में, तत्परवर्ती भाषाओं के साहित्य में, लोक-कथाओं में, लोक-भाषा में और लोकोक्तियों में हमें भूले हुए काल के अध्ययन की सामग्री मिल सकती है। साधारणतः इस परवर्ती साहित्य को संस्कृत का अनुवाद मात्र और उससे हीन समझकर उपेक्ष्य समझा जाता रहा है परन्तु यह विचार आंशिक रूप में ही सत्य है। संस्कृत में ऐसा बहुत बड़ा साहित्य है जो लोक-प्रचलित कथानकों और विश्वासों का परिमार्जित और बुद्धि-समंजस रूप है निस्संदेह देशी भाषाओं में संस्कृत का अनुवाद और तत्प्रभावित रूप भी है पर अनु-संधित्सु को इसे पहचानने में विशेष कठिनाई नहीं होती। हमारे हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल की अनेक कठिनाइयाँ इस बात को ध्यान में रखने से आसानी से हल की जा सकती हैं। मैं एक या दो उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करूँगा।

महान् गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव काल को लेकर अनेक बड़े विद्वानों को भी कठिनाई का अनुभव करना पड़ा है। गुरु गोरखनाथ विषयक अनुश्रुतियों का संग्रह करके सर जार्ज ग्रियर्सन ने दिखाया है कि इन अनुश्रुतियों पर विश्वास किया जाय तो गोरखनाथ का समय पहली से लेकर चौदहवीं शती तक पड़ता है। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' में विस्तारपूर्वक इन अनुश्रुतियों की समीक्षा की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनका समय सन् ई० की नवीं-दसवीं शताब्दी है। अब इस मत को मानने से कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसकी दो बानगी देता हूँ।

बप्पा रावल एक ऐतिहासिक पुरुष हुए हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार वे गुरु गोरखनाथ के शिष्य थे। इसी प्रकार रसाल भी एक ऐतिहासिक राजा हुए हैं। इनके वैमात्रेय भाई पूरन भगत या चौरंगी नाथ थे, जो गुरु गोरखनाथ के गुरु-भाई थे। इस प्रकार बप्पा रावल और गुरु गोरखनाथ और राजा रसाल सम-सामयिक होते हैं। इनमें से किसी एक का समय मालूम होने से बाकी दोनों का समय आसानी से मालूम होना चाहिए। पर बात एकदम उलटी है। इनका समसामयिक होना समस्या को सुलझाता नहीं, बल्कि और भी उलझा देता है। स्व० प० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने 'राजपूताने का इतिहास' (पृ० ११२) में बप्पा का समय आठवीं शताब्दी के पूर्व भाग में सिद्ध किया है और

ब्रिग्स ने (गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़) अनेक अटकलों के सहारे राजा रसाल का काल ग्यारहवीं शताब्दी में घसीटा है। अब परम्पराओं के मानने में जो कठिनाई होती है उसका प्रत्यक्ष स्वरूप आपकी समझ में आ जाएगा। मैं यहाँ कुछ थोड़े से ऐतिहासिक तथ्यों से आपको अवगत करा दूँ तो उपस्थित प्रसंग की चर्चा सहज हो जाएगी।

महाराणा कुम्भा के समय में 'एकलिंग-माहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गई थी। उसमें पुरातन कवियों का मत उद्धृत करके बताया गया है कि सं० ८१० विक्रमी में अर्थात् सन् ७५३ में बप्पा नामक प्रथम राजा हुआ, जो एकलिंग से वर प्राप्त करने में समर्थ हुआ था :

उक्तं च पुरातनैः कविभिः

आकाश चन्द्र दिग्गज संख्ये संवत्सरे बभूवस्त्र:
श्री एक लिंग शंकर लब्ध वरो बाप्प भूपालः ॥

ओझा जी ने इस वर्ष को बप्पा के राज्य-त्याग का वर्ष सिद्ध किया है। बप्पा इसके पूर्व ही सिंहासनासीन हो चुके थे (राजपूताने का इतिहास) परन्तु ओझा जी ने बप्पा-संबंधी प्रसिद्धियों के सिलसिले में गोरखनाथ से उनके सम्बन्ध वाली किसी प्रसिद्धि की चर्चा नहीं की है। बप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध में जितनी प्रसिद्धियाँ हैं उनमें बप्पा के गुरु का नाम हारीत ऋषि या हरितराशि बताया गया है जो लाकुलीश पाशुपत मत के कोई सिद्ध पुरुष रहे होंगे। फ्लीट ने सं० १९०७ में एक प्रबन्ध लिखा था, जिसमें एकलिंग जी के मन्दिर को लाकुल मन्दिर सिद्ध किया गया था (जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९०७, पृष्ठ ४२०)। एकलिंग जी के मन्दिर में एक लेख पाया गया जो सन् ९७१ ई० का है। इस लेख से मन्दिर की प्राचीनता सिद्ध होती है और यह अनुमान किया जा सकता है कि बप्पा रावल ने ही इस मन्दिर का निर्माण कराया होगा। फिर बप्पा का एक सोने का सिक्का अजमेर में मिला है, जो घिस जाने पर ६६ रत्ती के करीब है। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है (ना० प्र० प० भाग १, पृष्ठ २४१,८५ में ओझा जी का लेख) उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि बप्पा लाकुलीश पाशुपत मत के ही अनुयायी थे। इसमें सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री बाप्पा' लिखा हुआ है, (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है, और (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरों की वेदी पर एक शिवलिंग है, (४) इसकी दाहिनी ओर नंदी है और लिंग तथा नंदी के बीच प्रणाम करते हुए बप्पा का अधलेटा अंग है। पीछे की तरफ़ भी एक गौ खड़ी है जो 'बप्पा' के प्रसिद्ध गुरु

लकुलीश सम्प्रदाय के कनफटे साधु (नाथ) हारीत राशि की कामधेनु होगी, जिसकी सेवा बप्पा ने की थी। ऐसी कथा प्रसिद्ध है राजपूताने का इतिहास पृष्ठ ४१५, १६)। इस सिक्के के चिह्न बताते हैं कि बप्पा लाकुलीश सम्प्रदाय के शिष्य थे।

अब बप्पा का सिक्का और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनों ही सिद्ध करती हैं कि वे लाकुलीश सम्प्रदाय के भक्त थे। इस सम्प्रदाय के भक्तों को पुराणों में लाकुल कहा गया है। प्रायः ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ सम्प्रदाय-वाचक शब्द जोड़ा करते थे। यह निश्चित-सा जान पड़ता है कि बप्पा के नाम के साथ जुड़ा हुआ 'रावल' शब्द लाकुल का ही अपभ्रंश है और माहेश्वर, भागवत आदि के समान सम्प्रदाय का सूचक है।

'रावल' नामक नाथ साधुओं की एक शाखा आज भी वर्तमान है। यदि 'रावल' शब्द को राजकुल से संबद्ध न सोचकर 'लाकुल' शब्द से संबद्ध सोचा गया होता तो कोई उलझन पैदा हुई ही नहीं होती। इस रास्ते सोचने से कुछ नई बातें सूझतीं। हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल के नाथ योगियों ने सच्चे योगियों को रावल कहा है :

रावल ले जे चाहै राह।
उलटी लहर समावै मांह।
पंच तन्त्र का जाणै भेव।
ते तो रावल परतिठा देव।

(योगप्रवाह, पृष्ठ ६६, में घोड़ा चूली का वचन)

ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' में एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार शिवजी के प्रवर्तित अठारह सम्प्रदाय थे और गोरखनाथ के बारह। ये आपस में झगड़ते रहते थे। इनमें से छह-छह को चुनकर गोरखनाथ ने अपने बारह पंथ प्रतिष्ठित किये अर्थात् इस समय जो योगियों के बारह पंथ हैं उनमें छह शिवजी के द्वारा प्रवर्तित हैं और छह गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित। यह परम्परा अब भी नाथ योगियों में जीवित है। इस किंवदन्ती से अनुमान किया जा सकता है कि गोरखनाथ ने अपने से पूर्व के कई शैव-सम्प्रदायों में से छह को चुनकर अपने पंथ में अन्तर्भुक्त किया था। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' में विस्तारपूर्वक इस तथ्य की जाँच की है। यहाँ इतना कह रखना ही पर्याप्त है कि गोरखनाथ के मत में उनके पहले के संप्रदाय भी अन्तर्भुक्त हैं। रावल ऐसे ही हैं क्योंकि नाथ पंथ की सभी परम्पराओं के अनुसार ये लोग शिवजी द्वारा प्रवर्तित छह

संप्रदायों में से एक हैं। एक और सम्प्रदाय पागल पंथियों या 'गल' लोगों का है। इनके अधिकांश अनुयायी इस समय मुसलमान हो गए हैं। पागल पंथ के प्रवर्तक पूरन भगत या चौरंगी नाथ हैं जो राजा रसाल के वैमात्रेय भाई थे। ज्वालामुखी मुसलमान योगी हैं जो दो संप्रदायों, माढिया और गल को, अपने मत का अनुयायी समझते हैं। गल और पागल शब्दों के बारे में मुझे कुछ कहने की प्रेरणा मिल रही है, पर मेरा ख्याल है कि मैं काफ़ी बहक चुका हूँ। अधिक बहकना अनुचित है, इसलिये अभी प्रकृत विषय पर ही जमे रहना चाहता हूँ। अब रावल और गल सम्प्रदाय काफ़ी घुल-मिल चुके हैं, इसलिये लोक में इनके लिये 'रावल गल्ला' ही चल निकला है। यह आपको स्मरण करा दूँ कि बप्पा के समय के साथ गोरखनाथ के समय को घसीटने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि बप्पा जिस रावल या लाकुल सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह बहुत बाद में गोरखनाथ के बारह पंथों में अन्तर्भुक्त हुआ था। वस्तुतः वह बहुत पुराना शैव मत था। अब हम पागल या गल लोगों की बात पर विचार करें।

एक पुरानी परम्परा के अनुसार राजा रसाल के पिता प्रतापी राजा गल की राजधानी रावलपिंडी में थी। अनुमान किया गया है कि 'ग़ज़नी' नाम के मूल में भी इन्हीं का नाम है। संभवतः पुराना संस्कृत रूप गजनवी जैसा कुछ रहा हो। कहते हैं कि बाद में किसी कारणवश गाज राजा को अपनी राजधानी साकल (स्यालकोट) में हटानी पड़ी थी। रावल योगियों के स्थान पेशावर और रोहतक से लेकर अफ़गानिस्तान तक फैले हुए हैं। रावलपिंडी उनका बहुत बड़ा पुण्य स्थान है। इसका नाम गजपुरी था।

सन् १८८६ में टेम्पुल ने खोज कर देखा था कि राजा रसाल का समय सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हो सकता है। अरबी इतिहासकारों ने आठवीं शताब्दी के एक प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसका नाम उन्होंने कई प्रकार से लिखा है, जिसमें 'र' 'स' 'ल' अक्षर अवश्य आते हैं। फिर रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिंध में सन्धि की थी। सन्धि का समय आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ भाग है। इस ओर कुछ और अन्य प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर टेम्पुल ने अनुमान किया है कि 'रिसल' वस्तुतः राजा रसाल ही हैं और उनका समय ई० सन् की आठवीं शताब्दी का प्रथम भाग है। गोरखनाथ के समसामयिक रूप में प्रसिद्ध होने के कारण कई पण्डितों ने व्यर्थ ही राजा रसाल और पूरन भगत को ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुतः इन सारी उलझनों के मूल में एक ग़लतफ़हमी है। यह ठीक से समझा ही नहीं गया कि अनेक गोरक्ष पूर्व काल में हुए

जो गोरखनाथ के बारह पन्थों में अन्तर्भुक्त हैं और इन पूर्ववर्ती मतों के प्रवर्तक महान् शैव साधकगण गोरखनाथ के शिष्य या रूप मान लिये गये हैं क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से योगी लोग शिव और गोरख में कोई भेद नहीं करते। गोरख शिव के ही रूप हैं और जहाँ कहीं पुरानी कथा में शिव का स्थान था, वहाँ गोरखनाथ को बैठा देने में उन्हें कोई असामंजस्य मालूम नहीं हुआ। गोरखनाथ इस दृष्टि से साक्षात् शिव हैं अतएव अनादि हैं।

अब मैं फिर अपनी प्रकृत बात पर आ सकता हूँ। लोक-भाषा और लोक-साहित्य हमें अनेक उलझनों के सुलझाने में सहायता पहुँचा सकता है। 'रावल' शब्द के इतिहास से हम इस नतीजे पर अनायास पहुँचते हैं।

अध्यापक सिल्वां लेवी ने सन् १९२३ में अपने एक मौलिक लेख 'प्रे आर्या ए प्रे द्राविदियां दां लैन्द' (भारत में आर्य-पूर्व और द्रविड़-पूर्व) में दिखाया था कि प्राचीन भारत के अनेक भौगोलिक नाम जो साथ-साथ बोले जाते हैं, जैसे कोसल-तोसल, अंग-बंग, कलिंग-त्रिलिंग, उत्कल-मेकल और पुलिंद-कुलिंद, आस्ट्रो-एशियाई भाषाओं की शब्द-रचना पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाते हैं और इनके द्वन्द्वात्मक रूप का कुछ रहस्य समझ में आ जाता है। अच्छ-वच्छ, तक्कोल-क्क्कोल जाति के शब्द भी इसी श्रेणी के हैं। अध्यापक लेवी के इस लेख का अंग्रेजी अनुवाद डा० प्र० चन्द्र बागची द्वारा अनुवादित और सम्पादित पुस्तक 'प्री आर्यन एण्ड प्री ड्रेविडियन इन इण्डिया' में प्राप्य है। अध्यापक लेवी ने अपने लेख का उपसंहार करते हुए लिखा था 'हमें इस बात की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि भारतवर्ष की दन्तकथाएँ, धर्म और दार्शनिक चिन्ताएँ कहीं इस प्राचीन युग के साथ विजड़ित तो नहीं हैं। आज तक इस देश पर केवल इंडो-यूरोपियन दृष्टि से ही विचार किया गया है। हमें याद रखना चाहिये कि भारतवर्ष वस्तुतः एक बड़ा भारी नाविक देश रहा है। जिस वेग से भारतीय उपनिवेश सुदूर-पूर्व की ओर बढ़ते गये वह किसी नये जल-पथ का आविष्कार करने के कारण नहीं। वास्तव में इन पुराने भारतीय पर्यटकों, व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों ने जल-यात्रा के प्राचीन साधनों की उन्नति से ही लाभ उठाया था और पहले की अपेक्षा अधिक आराम और सफलता के साथ सिर्फ़ उन प्राचीन जल-पथों का अनुसरण-मात्र किया था जिन्हें आर्य-पूर्व जातियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही खोज लिया था। परवर्ती काल में आर्य लोगों ने और उनके द्वारा प्रभावित समूचे भारतीयों ने इन जातियों को बर्बर समझा था।

अध्यापक प्रज्युलुस्की ने आस्ट्रो-एशियाई संबंधों को सिर्फ़ भाषा-शास्त्रीय

सीमा तक ही सीमित नहीं रखा है बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अग्रसर किया है। महाभारत की मत्स्यगंधा वाली कहानी तथा नागों की कथाओं के साथ कुछ आस्ट्रो-एशियाई कथाओं की तुलना करते हुए वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इन कहानियों और दन्तकथाओं की परिकल्पना किन्हीं सामुद्रिक मानव-मण्डली ने की होगी, और इनकी सभ्यता और सामाजिक संघटन अपने प्रतिवेशी चीनियों और भारतीयों से भिन्न थी।[1]

इस प्रसंग में हमने मनुष्य के बुद्धि और भावपक्ष को छोड़कर केवल उसके नृतत्व-विद्या और भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध पक्ष का ही परिचय कराया है। मेरा उद्देश्य यह दिखाना नहीं है कि ये ही विषय हमारे साहित्य के प्रधान रूप से प्रतिपाद्य हैं, हमने केवल यह देखने का प्रयत्न किया है कि इस उपेक्षित दिशा से भी बहुत प्रकाश मिलने की संभावना है। जीवन्त जाति के पचाने की क्रिया भी जीवन्त होती है। न जाने कितने ही शब्द और अर्थ, धर्म और आचार, ज्ञान और विश्वास कहाँ-कहाँ से आकर इस महान् और जीवन्त भारतवर्ष के पाक-यन्त्र में पड़कर जीवन्त रक्त-मज्जा के रूप में बदल गये हैं। कौन इसका हिसाब बता सकेगा ? हिन्दी साहित्य में इस क्रिया के कुछ चिह्न स्पष्ट भाव से लक्षित हो जाते हैं। हम यदि जीवन्त मनुष्य के अध्ययन के साधक रूप में ही अपने साहित्य और भाषा का अध्ययन करें तो कहीं पछताने की जरूरत नहीं रहेगी। और सच पूछा जाये तो जैसा कि मैक्समूलर ने आज से वर्षों पहले कहा था, 'समूचे शास्त्र, ज्ञान और भाषा-विज्ञान का उद्देश्य, श्रेष्ठ अर्थों में, यही है कि मनुष्य क्या रहा है के माध्यम से यह समझा जा सके, कि मनुष्य क्या है। इस आदर्श को दिशा-दर्शक ध्रुव तारा मानकर चलने से गूढ़ और गहन तत्त्व-चिन्तन में लगे रहने पर भी हम दिग्भ्रम नहीं हो सकेंगे।'

हमारे साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल और व्यापक है। वह मनुष्य की अद्भुत ग्रहणशीलता, विशुद्ध अनाविल महिमा और अकल्पनीय एकता का संदेशवाहक है। मध्य युग के साहित्य में बार-बार इस महान् मानव-गुण ने बाधाओं और विघ्नों को ठेलकर सिर उठाया है। हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य हमें मनुष्य की महिमा को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करा देता है।

अभी जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिये सुसंपादित ग्रंथों की बहुत आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश हिन्दी के प्राचीन-साहित्य के सुसंपादित ग्रंथ बहुत कम हैं। मुनि जिनविजयजी, डा० माताप्रसाद

१. प्री आर्यन एंड प्री ड्रैविडियन इन इंडिया, पृष्ठ १३

गुप्त आदि बहुत थोड़े-से विद्वान दत्त-चित्त अवश्य हैं और उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य भी किए हैं—परन्तु इस दिशा में कार्य चलाने का बहुत क्षेत्र पड़ा हुआ है। हस्त-लेखों का संग्रह, उनके पाठ-भेदों का संकलन, पाठ-विकृतियों के आधार पर उनका वर्गीकरण और शुद्ध पाठ का उद्धार बहुत ही महत्वपूर्ण विषय हैं। क्या ही अच्छा होता कि हिन्दी के शोध-कार्य के लिये संपादन को भी एक आवश्यक विषय माना जाता। विदेशों में अच्छे संपादित ग्रंथों पर विश्वविद्यालय की सम्मानित उपाधि देने की प्रथा है। अपने देश के कुछ विश्वविद्यालयों ने भी इधर क़दम उठाया है। परन्तु अधिकांश विश्वविद्यालय इस कार्य के लिये विशेष उत्साह नहीं दिखाते। इधर हस्त-लेखों के विवरण-संग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस कार्य को लगभग आज से साठ वर्ष पहले शुरू किया था, और निष्ठापूर्वक उसमें लगी हुई है। बिहार, राजस्थान आदि राज्यों में भी निश्चित योजना के अनुसार यह कार्य आरम्भ हो गया है, और अभी भी यह प्रयत्न बाल्यावस्था में ही कहा जाना चाहिए। जिन ग्रंथागारों में हस्त-लेखों का अच्छा संग्रह है, उनमें कुछ को छोड़कर अधिकांश के पास वैज्ञानिक पद्धति पर लिखी हुई संदर्भ-सूची या 'कैटलाग' नहीं मिलते। शोधकर्त्ता को पत्र-व्यवहार द्वारा ग्रन्थागारों में सुरक्षित ग्रंथों की जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है, उनका पाठ-संकलन करना पड़ता है, उचित पाठ का निर्णय करना पड़ता है और तब कहीं जाकर वह मूल विषय के संबंध में विचार करने का अवसर पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश शोध-निबन्धों के प्रायः दो-तिहाई इस प्रकार के विवरणों से भरे रहते हैं, जिनमें शोधकर्त्ता विभिन्न स्थानों से प्राप्त की हुई सामग्री का परिचय देता है और पानी पिलाने की अपेक्षा कुआँ खोदने के प्रयत्नों का ही अधिक विवरण देता है।

शोध के कार्य में दो बातों की चर्चा प्रायः सुनने में आती है (१) क्षेत्र-कार्य (फ़ील्ड वर्क), और (२) आसन-कार्य (टेबुल वर्क)। लोक-साहित्य का विषय हो, या लोक-भाषा के वर्तमान रूप का विषय हो, अथवा प्राचीन कवियों के अध्ययन का विषय हो, सर्वत्र शोध-कर्त्ता को दौड़-धूप करनी पड़ती है। सब सामग्री जब उसे प्राप्त हो जाती है, तब बैठ कर आसन-कार्य करता है। यह व्यवस्था नितान्त आधुनिक-युग के शोध-कर्त्ताओं के लिये अनिवार्य-सी हो गई है। जीवित भाषाओं के शोध-कार्य में क्षेत्र-कार्य को इतना महत्त्व मिलने लगा है कि आसन-कार्य अवहेलनीय भाषा में स्मरण किया जाने लगा है। यह बात वर्तमान अवस्था में ठीक भी है। परन्तु यह भी सत्य है कि जब तक शोध-कर्त्ता जम के नहीं बैठता, वह गम्भीर-चिंतन और भेदक मनीषा का परिचय भी नहीं

दे सकेगा। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि कुछ केन्द्रीय स्थानों में शोध-विषयक सामग्री का बहुत अच्छा संकलन हो। आज के वैज्ञानिक युग में जबकि फ़ोटोग्राफ़ी का इतना विकास हो चुका है और यातायात की इतनी सहूलियत हमें प्राप्त है यह कार्य बहुत दुष्कर नहीं है, परन्तु व्यय-साध्य अवश्य है। यह ठीक है कि जितना भी संग्रह क्यों न हो क्षेत्र-कार्य के लिये दौड़-धूप करने की आवश्यकता बन ही आएगी। जीवन्त लोक-भाषा और लोक-साहित्य के अध्ययन के लिये तो कभी भी क्षेत्र-कार्य का महत्व घट नहीं सकता। परन्तु जहाँ तक विचारों की गहनता और गाढ़ता का प्रश्न है आसन-कार्य को महत्त्व देना ही पड़ेगा।

क्षेत्र-कार्य द्वारा प्राप्त की गई सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच भी शोध-कार्य का एक आवश्यक अंग है। इसके लिये सारे संसार में प्रचलित विद्वज्जन-स्वीकृत प्रणालियाँ वर्तमान हैं। जिन देशों में शोध-कार्य काफ़ी अग्रसर हो चुका है उन देशों की कार्य-पद्धति का प्रत्यक्ष अनुभव भी शोध-कर्त्ता को होना चाहिए। शीघ्र ही वह समय आएगा, कि हमारे देश के शोध-प्रिय युवक और युवतियाँ भारत की सीमा में ही आबद्ध न रहकर दूर-दूर देशों के भाषा-सम्बन्धी कार्य करना आरम्भ करेंगे। हमें और देशों की भाषा और साहित्य का और उनमें किए जाने वाले कार्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान होगा तभी उसके उचित परिपार्श्व में अध्ययन कर सकेंगे। विश्वविद्यालयों को कभी-कभी अनुसंधान-प्रेमी छात्रों को विदेशों में भी भेजने की व्यवस्था करनी चाहिए। सामग्री का संकलन, उनके उपयोग की विधि का ज्ञान और अभीष्ट दिशा में उसका विनियोजन बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है। हिन्दी में अभी उनका श्रीगणेश ही हुआ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शीघ्र ही हमारे उत्साही युवक इस महत्वपूर्ण कार्य को ऊँचे स्तर पर ले आएँगे। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते'—संसार में ज्ञान के समान पवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है। शोध-कर्त्ता इसी ज्ञान का उपासक है। इस पवित्र वस्तु की साधना के लिये निचली श्रेणी के स्वार्थ का पूर्ण रूप से वर्जन होना चाहिए। तभी हम अपनी वांछित सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त

# पाठानुसंधान

## (१) उद्देश्य, विस्तार और आवश्यकता

पाठानुसंधान का उद्देश्य किसी ऐसी रचना का पाठ-निर्धारण हुआ करता है जिसका उसके लेखक द्वारा प्रमाणीकृत पाठ उपलब्ध नहीं होता है। जिन रचनाओं के ऐसे मुद्रित संस्करण उपलब्ध होते हैं जो लेखक की देख-रेख में प्रकाशित होते हैं, अथवा जिन प्राचीन रचनाओं की लेखक की हस्तलिखित अथवा उसके द्वारा संशोधित प्रतियाँ या प्रतिलिपियाँ प्राप्त होती हैं उनके सम्बन्ध में पाठानुसंधान की आवश्यकता नहीं होती है। अतः प्रायः ऐसी रचनाओं के सम्बन्ध में ही पाठानुसंधान की आवश्यकता होती है जो मुद्रण-युग के पूर्व की हों, अथवा यदि मुद्रण-युग की हों तो अनधिकृत रूप से मुद्रित हुई हों। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में इस विज्ञान की उपयोगिता प्रकट है। हमारा समस्त प्राचीन साहित्य हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध है, जिनमें से बिरली ऐसी होंगी जो स्वतः लेखक के हाथ की लिखी अथवा उसके द्वारा संशोधित अथवा प्रमाणीकृत हों; फिर जिन रचनाओं की एक से अधिक प्रतियाँ मिलती हैं, उनका पाठ भी विभिन्न प्रतियों में परस्पर किसी न किसी परिमाण में भिन्न हुआ करता है; ऐसी दशा में यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न प्राप्त पाठों में से अधिकृत पाठ कौन-सा है। पाठ-निर्धारण का यह कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है, किन्तु वैज्ञानिक पद्धति पर पाठ-निर्धारण अर्थात् पाठानुसंधान का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। हिन्दी में तो अभी इसका आरंभ ही हुआ है। और अपने समस्त प्राचीन साहित्य के

सभी प्रकार के अध्ययन-विवेचन के लिए इस पद्धति पर कार्य होने की जो आवश्यकता है, उसे बताना अनावश्यक होगा।

## (२) विषय-विभाजन

इसे प्रायः चार विभागों में विभाजित किया जाता रहा है। सामग्री-संकलन (Hueristics), पाठ-चयन (Recension), पाठ-सुधार (Emendation) तथा उच्चतर आलोचना (Higher Criticism)। समस्त प्राप्त पाठ-सामग्री का उपयोग के लिए एकत्रित किया जाना सामग्री-संकलन है। रचना के विभिन्न प्राप्त पाठों की जाँच करके उनमें से अधिकृत पाठ को ग्रहण करना पाठ-चयन है। प्राप्त पाठों में से जब एक भी अधिकृत प्रमाणित न होता हो, तब ऐसे पाठ की कल्पना करना जो अधिकृत हो सकता हो, पाठ-सुधार है। रचना के मूलाधारों की खोज और लेखक ने किस प्रकार उनका उपयोग किया है इसका विवेचन उच्चतर आलोचना है। किंतु अंतिम पाठानुसंधान का वस्तुतः उतना अनिवार्य अंग नहीं है जितने अन्य तीन हैं; वह उसमें सहायक भी हो सकता है।

## (३) सामग्री के प्रकार और उनकी सापेक्षिक उपयोगिता

सामग्री दो प्रकार की मानी गई है : मुख्य और सहायक। जो सामग्री कृति के पाठ को कृति के रूप में ही प्रस्तुत करती है, वह मुख्य सामग्री है। इसके अन्तर्गत कृति की प्रतियाँ आती हैं। ये प्रतियाँ कई प्रकार की होती हैं। वे प्रतियाँ जो लेखक के हाथ की लिखी, अथवा किसी अन्य के द्वारा लिखी किन्तु उसके द्वारा संशोधित अथवा प्रमाणीकृत होती हैं, स्वहस्त लेख कहलाती हैं। प्रकट है कि ऐसी प्रतियाँ उपलब्ध होने पर पाठानुसंधान की अपेक्षा नहीं रह जाती है। इसके अनन्तर सबसे अधिक महत्त्व की प्रतियाँ वे होती हैं जो इनकी प्रतिलिपियाँ होती हैं और प्रथम प्रतिलिपियाँ कहलाती हैं। फिर उनके अनन्तर प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ होती है जो विभिन्न महत्त्व की हो सकती हैं। सामान्यतः जो प्रतियाँ जितनी ही प्राचीन होती हैं उन्हें उतना ही अधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि वे मूल के उतनी ही अधिक निकट की हो सकती हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है। हो सकता है एक बहुत बाद की तिथि की प्रतिलिपि मूल प्रति अथवा उसकी प्रथम प्रतिलिपि से की हुई प्रतिलिपि हो और शेष उपलब्ध प्रतियाँ जो तिथि में उसके पूर्व की हों मूल की कई पीढ़ियों के बाद आती हों। इसलिए इस सम्बन्ध में आवश्यक यह जानना हुआ करता है कि कोई प्रति मूल से कितनी पीढ़ियाँ नीचे आती है।

यह अवश्य है कि एक ही प्रतिलिपि-परम्परा की प्रतियों में जो पूर्वापर क्रम होगा, उसके अनुसार उस परम्परा की प्रतियों का भी महत्त्व होगा। जो पाठ-सामग्री रचना की प्रतियों के रूप में न प्राप्त होकर, उसकी टीका, सन्दर्भ-ग्रन्थ, अनुवाद, विवेचन, उद्धरण आदि के रूप में प्राप्त होती है, वह सहायक सामग्री कहलाती है। यह सामग्री तभी विशेष महत्त्व की प्रमाणित होती है जब कि इससे किसी ऐसी शाखा का पाठ मिलता है जिसकी मुख्य सामग्री अप्राप्य होती है, अथवा जब कि मुख्य सामग्री त्रुटित हो और उन अंशों में यह सामग्री उपलब्ध होती है।

## (४) सामग्री की बहिरंग परीक्षा

प्रत्येक पाठ-सामग्री की परीक्षा आवश्यक होती है। यह परीक्षा दो प्रकार की होती है: बहिरंग और अंतरंग। किसी भी पाठ-सामग्री के सम्बन्ध में यह देखना कि उसके लिपिकाल, लिपिकार, लिपिप्रयोजन आदि के सम्बन्ध में उसमें जो कुछ कहा या लिखा हुआ है, वह कहाँ तक विश्वसनीय है, अथवा यदि उसमें इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है फिर भी इन विषयों पर उसके सम्बन्ध में कोई प्रसिद्धि रही है, तो वह कहाँ तक मान्य है, यह प्रति की बहिरंग परीक्षा है। प्रायः प्रतियों के अंत में इस प्रकार के उल्लेख रहते हैं जो पुष्पिका के उल्लेख कहलाते हैं। उदाहरण के लिए सोरों (एटा) में 'रामचरितमानस' की दो प्रतियाँ हैं, जिनमें से एक बाल तथा दूसरी अरण्य कांड की है। बालकांड की प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है:—

**संवत् १६४३ शाके १५०८.........वासी नन्ददास पुत्र कृष्नदास हेत लिखी रघुनाथदास ने कासीपुरी में।**

अरण्य कांड की प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है:—

**श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सों उनके भ्राता सुत कृष्नदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिषितं लछिमनदास कासी जी मध्ये संवत् १६४३ आषाढ़ सुद्ध ४ शुक्रे इति।**

इन प्रतियों पर कुछ संशोधन भी किए हुए हैं, जिनके संबंध में यह कहा गया है कि वे तुलसीदास जी के द्वारा किए हुए हैं। उदाहरण के लिए अरण्य-कांड की प्रति में नारद ने राम से कांड के अन्त में जो वर-याचना की है, उसप्रसंग का एक चरण प्रति में लिखने से रह गया था, इसे हाशिए में इस प्रकारलिखा गया है—

**अहे सदा अघ खग गन बधिका।**

प्रकट है कि यदि उपर्युक्त पुष्पिकाओं में जो उल्लेख आते हैं वे प्रामाणिक हैं, तो ये प्रतियाँ तुलसीदास की स्वहस्तलेख होंगी और फिर मानस के दो कांडों

के सम्बन्ध में पाठानुसंधान की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इसलिए इन पुष्पिकाओं की जाँच आवश्यक है। इनकी बहिरंग परीक्षा की दृष्टि से पहली बात जो ध्यान देने की है बालकांड की प्रति की पुष्पिका की लिखावट शेष प्रति की लिखावट से मेल नहीं खाती है, और पुष्पिका की पूरी अंतिम पंक्ति पर जिसमें उपर्युक्त उल्लेख का अधिकांश आता है स्याही फेरी हुई है, जिससे अक्षरों का वास्तविक आकार-प्रकार सुरक्षित नहीं रह गया है, और फिर इसके बाद भी पूरी पुष्पिका पर गेरू घिसा गया है। इसी संबंध में दूसरी बात जो दर्शनीय है, यह है कि १६४३ की जो तिथि लिखी गई है, उसमें ६ तथा ४ के अंकों के बीच इतना फ़ासला छूटा है कि यदि स्वाभाविक रीति से लिखा गया होता तो आसानी से एक अंक और आता। फिर शब्द 'शाके' और १५०८ के बीच में इतनी जगह छूटी हुई है जितने में उसके ऊपर की पंक्ति में ही दो अक्षर आए हैं और इस स्थान पर कागज़ जलकर निकल गया है फिर भी कोई अक्षर क्षत-विक्षत नहीं हुआ है, जिससे यह नितान्त स्पष्ट है कि यह पुष्पिका उस समय लिखी गई जब कागज़ वहाँ पर जलकर निकल गया था, और यह उस समय की लिखी हुई नहीं है जब प्रति लिखी गई थी, और न उस व्यक्ति की लिखी हुई है जिसने पूरी प्रति लिखी थी।

अरण्य कांड की पुष्पिका की भी कुछ यही दशा है। उसकी लिखावट भी शेष समस्त प्रति की लिखावट से भिन्न है; उसकी तिथि १६४३ के १६४ इस प्रकार लिखे हुए हैं कि वे लंबाई-चौड़ाई में पुष्पिका के ही अन्य अंकों और अक्षरों से ड्योढ़े तथा मोटाई में दूने हो गए हैं; फिर इस वर्ष में मल मास अथवा अधिक मास लगा नहीं था, इसलिए 'अषाढ़ सुद्ध' अर्थहीन हो जाता है।

फलतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बहिरंग परीक्षा में ये दोनों प्रतियाँ खरी नहीं उतरती हैं, और इनकी पुष्पिकाओं के आधार पर इन्हें तद्वत् नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

## (५) सामग्री की अंतरंग परीक्षा

पाठ-सामग्री के पाठ की सहायता से यह परखना कि उनकी पुष्पिकाओं में जो उल्लेख आते हैं अथवा उनके संबंध में जो प्रसिद्धियाँ हैं वे कहाँ तक ठीक हैं, उनकी अंतरंग परीक्षा कहलाती है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' की सोरों की जिन दो प्रतियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनको यदि इस दृष्टि से देखा जावे कि वे कहाँ तक १६४३ का पाठ प्रस्तुत करती हैं, वे क्या वास्तव में नंददास के पुत्र कृष्णदास के लिए लिखी हुई हो सकती हैं, वे क्या काशी का पाठ प्रस्तुत करती हैं, वे क्या तुलसीदास की आज्ञा से उनके किसी

शिष्य द्वारा (और इसीलिए उनकी अपनी प्रति से) उतारी गई हो सकती हैं, और क्या उनपर किए हुए संशोधन स्वयं मानस-कार तुलसीदास के हो सकते हैं, तो यह परीक्षा उनकी अंतरंग परीक्षा होगी।

उपर्युक्त बालकांड की प्रति के अन्त में निम्नलिखित तीन छंद—दो सोरठे तथा एक दोहा—आते हैं :

(१) **बालचरित सतियाउ बरने तुलसीदास बुध।**
**(कहे) सुने सचु पाव परम पुनीत विचित्र अति ।।**

(२) **भद्रपुरी सुग्राम अति निर्मल सुष सिवपुरी।**
**जहाँ देहु विस्राम सो महिमा बरनिय कहा ।।**

(३) **कहै सुनै समुझै जन सफल सो प्रभु गुन गान।**
**सीतापति रघुकुल तिलक सदा करहिं कल्यान ।।**

बालकांड की सबसे प्राचीन प्रतियाँ सं० १६६१, १७०४, १७२१ तथा १७६२ की हैं। किन्तु इनमें से किसी में भी ये छंद नहीं मिलते हैं, जिससे यह मानना कठिन हो जाता है कि सं० १६४३ तक कवि के द्वारा ये छंद बालकांड में रखे गए थे। कृष्णदास के संबंध में कहा गया है कि वे एक अच्छे विद्वान थे और कविता भी करते थे। किन्तु इस प्रति का पाठ, संशोधन के अनंतर भी, बहुत अशुद्ध है। छंदों के प्रायः हर दूसरे-तीसरे चरण में शब्द या शब्दांश छूटे हुए हैं। प्रति के केवल अंतिम पृष्ठ पर ही कांड की जो अंतिम हरिगीतिका है, उसका अन्तिम चरण नहीं है, उसके पूर्व की जो अर्द्धाली है, उसका एक चरण नहीं है; होना चाहिए 'जीवन', लिखा गया है 'जीवन्ह', होना चाहिए 'जीवन पावन' और लिखा हुआ है 'पावन जीवन्ह', होना चाहिए था 'ब्याह' और लिखा गया है 'बाह', होना चाहिए था 'बिबाह' और लिखा हुआ है 'बिबा'। पंडित और कवि कृष्णदास के लिए इस इस प्रकार की प्रतिलिपि की गई होगी, यह अतः मान्य नहीं हो सकता है। यह प्रति काशी का भी पाठ नहीं प्रस्तुत करती है, यह इससे प्रकट है कि काशी की लिखी जो प्राचीन प्रतियाँ मिली हैं, उनमें उपर्युक्त तीन में से एक भी छंद नहीं मिलता है। यह प्रतिलिपि तुलसीदास की आज्ञा से उनके किसी शिष्य द्वारा (और उनकी अपनी प्रति से) की हुई भी नहीं हो सकती है। पंडित और कवि कृष्णदास को तुलसीदास अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति की ऐसी प्रतिलिपि भेंट कर सकते थे, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रति सशोधित है, फिर भी उसके पाठ की यह दशा है, इसलिए यह भी प्रमाणित है कि संशोधक तुलसीदास नहीं थे। यहाँ तक हुई बालकांड की उपर्युक्त प्रति की बात। अरण्य कांड की प्रति की भी यही दशा है। ऐसी हालत में इन

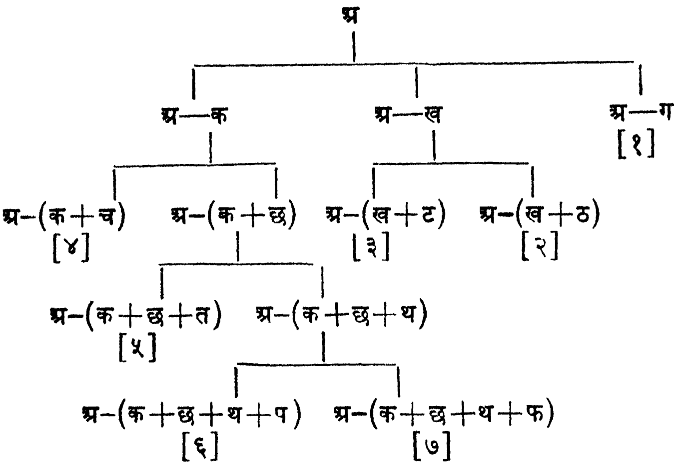
प्रतियों को इनकी पुष्पिका के अनुरूप प्रामाणिक मानना किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए संभव नहीं है।

## (६) पाठ-विकृतियाँ और उनके प्रकार

प्राचीन रचनाओं के पाठ हमें प्रतिलिपियों के द्वारा प्राप्त होते हैं, और सभी प्रतिलिपिकारों में समान रूप से न पूरी ईमानदारी होती है, और न पूरी योग्यता, इसलिए प्रतिलिपि-परंपरा में कृति का पाठ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकृत होता जाता है। ये विकृतियाँ अनेकानेक प्रकार की होती हैं किन्तु इन्हें मुख्यतः दो वर्गों में रक्खा जा सकता है : इच्छित और अनिच्छित। इच्छित विकृतियाँ वे होती हैं जो प्रतिलिपिकारों के द्वारा रचना के पाठ में जान-बूझकर उपस्थित की जाती हैं। उदाहरणार्थ, रचनाओं के पाठ में उनको और अधिक पूर्ण, संगत, काव्योचित अथवा 'शुद्ध' बनाने के लिए जो परिवर्तन किए जाते हैं वे भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं और प्रक्षेप कहलाते हैं। इसी प्रकार पाठ में जो विकृतियाँ प्रतिलिपिकारों की अयोग्यता, असावधानी, या अन्य कारणों से बिना चाहे हो जाती हैं, वे अनिच्छित विकृतियाँ कहलाती हैं। उदाहरणार्थ पत्रों, पंक्तियों, शब्दों, मात्राओं आदि का छूट जाना, उनका क्रम या स्थान बदल जाना, स्मृति-भ्रम से एक शब्द या चरण के स्थान पर दूसरा शब्द या चरण लिख उठना, अपनी जानकारी के लिए आदर्श प्रति के हाशिए में उसके स्वामी के द्वारा लिखी हुई टिप्पणियों का मूल में सम्मिलित कर लिया जाना।

## (६) पाठ-संबंध और उनके प्रकार

किसी रचना की विभिन्न प्रतियाँ मूल प्रति से और परस्पर जिस प्रकार संबंधित होती हैं उसका पता लगाना पाठानुसंधान का एक सर्वप्रमुख कार्य है। पुराने ढंग के पाठालोचन और आधुनिक पाठानुसंधान के बीच जो सबसे बड़ा अन्तर है वह यही है कि पाठानुसंधानकर्त्ता विभिन्न प्राप्त प्रतियों के बीच संबंध-निर्धारण का प्रयास कर रचना की पाठ-परम्परा का इतिहास पुनर्निर्मित करता है, और फिर वह इसके द्वारा रचना के प्राचीनतम रूप तक पहुँचने का प्रयास करता है। यह संबंध दो प्रकार का होता है : मूल तथा गौण। रचना के मूल रूप के जो तत्त्व विभिन्न प्रतियों में सुरक्षित रहते हैं, उनके आधार पर उनका मूल संबंध स्थापित होता है, और प्रतिलिपि-क्रिया में उसके पाठ में जो तत्त्व-विकृतियों के रूप उपस्थित होते जाते हैं, उनके आधार पर प्रतियों का गौण संबंध स्थापित होता है। यह बात एक रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार उदाहृत की जा सकती है :—




कल्पना कीजिए कि मूल पाठ 'अ' था। उससे तीन प्रथम प्रतिलिपियाँ हुईं। एक में कुछ विकृतियाँ आ गईं, जिन्हें 'क' कहा जा सकता है, उसी प्रकार दूसरी में 'ख' विकृतियाँ आ गईं, और तीसरी में 'ग' विकृतियाँ आ गईं। अब ये तीनों प्रतियाँ केवल मूल संबंध से सम्बन्धित हैं, क्योंकि तीनों में जो तत्त्व समान रूप से पाए जाते हैं वे मूल 'अ' के हैं, और जो विकृति तत्त्व या गौण तत्त्व पाए जाते हैं वे तीनों के अपने और अलग-अलग 'क', 'ख' और 'ग' हैं। अब कल्पना कीजिए कि अ—क और अ—ख की दो-दो प्रतिलिपियाँ हुईं, और इन प्रतिलिपियों में नवीन विकृति-तत्त्व आये। अ—क की एक प्रतिलिपि में 'च' विकृतियाँ आ गईं तो दूसरी में 'छ', फिर भी इनमें विकृति के कुछ तत्त्व समान रूप से मिलते हैं, और वे हैं 'क'; इसलिए ये प्रतियाँ मूल से 'अ' के शेषांश के द्वारा तथा अ—क से और परस्पर अ—क के विकृति-तत्त्वों के द्वारा संबंधित हैं। इसी प्रकार रेखा-चित्र की और भी प्रतियों के बारे में समझा जा सकता है।

## (८) संबंध-निर्धारण प्रणाली

प्रकट है कि विभिन्न प्रतियों में प्राप्त रचना के मूल और गौण तत्त्वों के आधार पर यदि उनका उपर्युक्त प्रकार से मूल तथा गौण सम्बन्ध स्थापित किया जा सके, तो मूल पाठ तक पहुँचा जा सकता है, और प्रायः उतनी ही निश्चयात्मकता के साथ पहुँचा जा सकता है जितनी निश्चयात्मकता के साथ उपर्युक्त सम्बन्ध निर्धारित किया जा सके। किन्तु यह संबंध-निर्धारण कितना दुर्गम कार्य है, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। यह किस

प्रकार किया जाता है, इसे उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है :—

कल्पना कीजिए कि उपर्युक्त रेखाचित्र की प्रतियों में से आपको केवल [१] से लेकर [७] तक प्राप्त हैं। आप पाठ-विश्लेषण करने पर देखेंगे कि यद्यपि [१] में विकृतियाँ हैं किन्तु वे अन्य किसी प्रति में नहीं मिलती हैं, इसलिए उसे आपको एक स्वतन्त्र स्थान देना पड़ेगा। फिर आप देखेंगे कि [२] और [३] में भी विकृतियाँ हैं जो अन्यों में नहीं पाई जाती हैं, किन्तु जिनमें से कुछ दोनों में परस्पर पाई जाती हैं, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वे एक स्वतन्त्र शाखा की हैं और कहीं-न-कहीं किसी ऐसे सामान्य आदर्श अर्थात् पूर्वज से निकली हुई हैं जो मूल के नीचे की किसी पीढ़ी में आता था, और उस आदर्श या पूर्वज में अ—ख तत्त्व रहे होंगे जो [२] तथा [३] को उसी से प्राप्त हुए होंगे। अब आप देखेंगे कि [६] और [७] में विकृति के ऐसे तत्त्व अनेक हैं जो दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं, और इसलिए आप यह मान लेंगे कि ये किसी ऐसे सामान्य आदर्श या पूर्वज से निकली हुई हैं जो मूल से नीचे का रहा होगा। यदि आप [५] से इन दोनों का मिलान करेंगे, तो आप देखेंगे कि यद्यपि [५] के साथ इनका उतना विकृति-साम्य नहीं है जितना आपस में है, फिर भी है अवश्य; अतः आप यह मान लेंगे कि [५] भी उसी आदर्श या पूर्वज की सन्तान होगी जिसकी [६] और [७] का आदर्श या पूर्वज प्रति रही है। और आगे बढ़ने पर जब आप देखें कि [४] में भी ऐसे कुछ विकृति-तत्त्व मिलते हैं जो [५], [६] और [७] में समान रूप से पाए जाते हैं, तो आप यह मान लेंगे कि [४] भी उसी आदर्श या पूर्वज की संतान है जो [५], [६] और [७] का सामान्य आदर्श या पूर्वज था। इस प्रकार आप प्राप्त सातों प्रतियों का संबंध-निर्धारण कर लेंगे।

## (९) पाठानुसंगति के प्रकार

निर्धारित प्रत्येक पाठ को दो प्रकार की अनुसंगतियों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए : बाह्य और आंतरिक। बाह्य अनुसंगति का संबंध रचना की संपादन या पाठ-सामग्री से होता है, और आंतरिक अनुसंगति का संबंध रचना की प्रकृति और उसके आकार-प्रकार से होता है। रचना का वही पाठ ग्राह्य हो सकता है जो उसकी पाठ-सामग्री द्वारा प्रस्तावित और रचना की अपनी प्रकृति द्वारा अनुमोदित हो। मान लीजिए यदि ऐसा पाठ ग्रहण किया जाता है जो यद्यपि पाठ-सामग्री में मिलता है किन्तु जो निश्चित रूप से अर्थहीन है

अथवा रचयिता के प्रमाणित विचारों के सर्वथा प्रतिकूल जाता है, तो इस प्रकार का पाठ ग्राह्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार कल्पना कीजिए कोई ऐसा पाठ किसी स्थल पर दिया जा सकता है जो लेखक की विचार-धारा और अभिव्यक्ति-प्रणाली आदि की दृष्टि से ठीक लगता है, किन्तु पाठ-सामग्री में नहीं मिलता है, और न प्राप्त पाठ निश्चित रूप से किसी प्रकार भी उससे बिगड़कर ही बने माने जा सकते हैं। ऐसी दशा में यह अन्यथा उत्कृष्ट पाठ भी ग्राह्य नहीं हो सकता है।

## (१०) पाठ-चयन

प्राप्त विभिन्न पाठों में से संभव मूल-पाठ को चुन लेना पाठ-चयन कहलाता है। प्रतियों के पाठ-संबंध-निर्धारण के अनन्तर अनुसंगतियों की सहायता से पाठ-चयन काफ़ी हद तक सुगम हो जाता है और निरापद भी। कल्पना कीजिए कि किसी रचना के पाठ की कई शाखाएँ निर्धारित हुईं—अर्थात् उसके कई ऐसे पाठ मिले जो कि मूल संबंध से ही संबंधित हैं। गौण या विकृति-संबंध से नहीं, संबंधित हैं। ऐसी दशा में जो तत्त्व किन्हीं भी दो शाखाओं में समान रूप से मिलेंगे वे मूल के होंगे। यदि कल्पना कीजिए दो ऐसे विभिन्न पाठ मिलते हों जो दो-दो या अधिक शाखाओं में पाए जाते हों, तो यह मानना पड़ेगा कि या तो संबंध-निर्धारण ठीक ढंग से नहीं हुआ है, और या तो—यदि दोनों पाठ दोनों प्रकार की अनुसंगतियों से समर्थित हैं—वे रचना के लेखक-कृत दो आगे-पीछे के पाठों को प्रस्तुत करते हैं। इस पिछले तथ्य का विश्लेषण पाठानु-संधान का एक बहुत ही दुर्गम विषय है, और यहाँ पर उसकी प्रणाली का विवेचन संभव न होगा। अतः कल्पना कीजिए कि पाठ-संबंध-निर्धारण के अनन्तर पाठों की केवल दो शाखाएँ मिलती हैं, तो जहाँ पर दोनों में अभिन्नता होगी, वहाँ पर तो उक्त अभिन्न अंश को मूल का मान लेना होगा। किन्तु जहाँ पर पाठ-भेद होगा वहाँ पर कठिनाई होगी। यदि दोनों पाठों में से एक निश्चित रूप से विकृत प्रमाणित होगा और दूसरा अविकृत तो अविकृत को ग्रहण करना होगा। किंतु यदि दोनों पाठ समान रूप से अविकृत लगते होंगे तो दोनों शाखाओं की आपेक्षिक विश्वसनीयता के अनुसार अधिक विश्वसनीय पाठ वाली शाखा के पाठ को ग्रहण करना होगा। परन्तु यदि ऐसे पाठ-भेदों का बाहुल्य हो जो दोनों में समान रूप से अविकृत लगते हों, तो इस बात का निश्चय करना होगा कि दोनों पाठ लेखक द्वारा ही प्रकाशित रचना के दो आगे-पीछे के पाठ तो नहीं प्रस्तुत कर रहे हैं?

## (११) पाठ-सुधार

सामान्यतः और अधिकांश में पाठ-चयन से रचना का संतोष-जनक मूल या प्राचीनतम पाठ उपलब्ध हो जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति सामने आती है कि प्राप्त पाठों में से कोई भी दोनों अनुसंगतियों द्वारा समर्थित नहीं होता है। ऐसी दशा में ऐसे पाठ की कल्पना करनी पड़ती है जिससे बिगड़ कर प्राप्त पाठ अथवा उनमें से किसी के बने होने की संभावना हो और जो रचना की आंतरिक प्रकृति से सर्वथा अनुमोदित हो। इस प्रकार की पाठ-कल्पना को पाठ-सुधार कहते हैं। पाठ-सुधार एक बड़े उत्तरदायित्व का कार्य है, और इसकी शरण तभी लेनी चाहिए जब पाठ-चयन से किसी प्रकार भी ऐसा पाठ न मिल रहा हो जो आंतरिक अनुसंगतियुक्त हो। इस कार्य के लिए पाठानुसंधानकर्त्ता को रचयिता की ही समस्त रचनाओं का नहीं, उसकी काव्य-प्रणाली, उसके युग और उसकी विचार-धारा की अन्य रचनाओं का भी सम्यक् अध्ययन होना चाहिए; जिन युगों और जिन क्षेत्रों में विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उनकी लिपि और लेखन-प्रणाली का ज्ञान होना चाहिए, मूल रचना और प्राप्त अंतिम प्रतिलिपि की विधियों के बीच जिन क्षेत्रों में विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उन क्षेत्रों में उसकी और उन क्षेत्रों की भाषा ने कितने करवटें बदली हैं—उसके लिए इन सब बातों का भी ज्ञान अपेक्षित है। रचना के मूलाधारों और लेखक द्वारा उनके उपयोग के प्रकारादि के अध्ययन भी, जो उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत माने जाते रहे हैं, इस कार्य में सहायक हो सकते हैं।

## (१२) परिणाम की सत्यता

पाठानुसंधान अंततः सत्य का अनुसंधान ही है, जिसका परिणाम प्रत्येक अनुसंधान की भाँति सत्य की उपलब्धि भी हो सकता है। जितनी ही ईमानदारी, योग्यता और अनुभव के साथ निर्धारित विधियों का अनुसरण करते हुए पाठानुसंधान का कार्य किया जावेगा, और आवश्यक पाठ-सामग्री जितनी पूर्णता के साथ उपलब्ध होगी, परिणाम में उतनी ही अधिक सत्यता की भी आशा की जा सकती है। फिर भी एक बात निश्चित है : प्रत्येक अनुसंधान हमें सत्यान्वेषण और सत्य-स्थापन की दिशा में आगे बढ़ाता है, और पाठानुसंधान के संबंध में भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

# भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान

"वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म"—यह उपनिषद् का वाक्य है। यहाँ शब्द को ब्रह्म कहा गया है। शब्द या वाक्य की उपासना भी ब्रह्म की ही उपासना है। जब हम अपने यहाँ के प्राचीन शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण काव्यशास्त्रादि ग्रंथों को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उक्ति कोई भावनात्मक उद्गार मात्र नहीं है वरन् शताब्दियों के अध्ययन, अनुशीलन और अनुसंधान का परिणाम है। एक महान् प्रयोजन को सामने रखकर विभिन्न दृष्टियों से हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने भाषा-तत्त्व का अध्ययन किया था। "कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि" इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है "रक्षोहागमलघ्वसंदेहः प्रयोजनम्" अर्थात् ज्ञान की रक्षा और संदेहों का निराकरण करके अर्थ की उपलब्धि के निमित्त शब्दों का अध्ययन किया जाता था। अभी हाल में मैंने अमरीका के एक भाषाविज्ञानी सिमूर चैटमैन का एक निबंध पढ़ा था, जिसमें भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक व्याख्या का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। इस विषय का सांगोपांग विवेचन अपने यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में हुआ है। हर्ष है कि आज के नवीन भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अब इस प्राचीन तथ्यों की ओर ध्यान जाने लगा है। पाणिनि और पतंजलि के ग्रंथ आज भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के लिए सर्वोत्तम आदर्श हैं। रूप-विन्यास तथा आकृतिमूलक विश्लेषण को तथावत् विकसित करने के लिए अनुसंधान के क्षेत्र में उनके तथ्यों और प्रणालियों के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

यह केवल संयोग की बात नहीं है कि आधुनिक अर्थों में भाषाविज्ञान का

प्रारंभ १८वीं शताब्दी में तब हुआ जब कि सर विलियम जोन्स तथा कोर्दो आदि पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत का पता चला। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं के शब्दों तथा व्याकरणिक रूपों की समानताओं से प्रभावित होकर इन विद्वानों ने तत्परता के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। १९वीं शती में अध्ययन और अनुसंधान की इस परम्परा का और भी अधिक विकास हुआ और इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा फ़ारसी, आर्मीनियन, स्लैवानिक, गाथिक, केल्टिक आदि भाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्धों की स्थापना हुई। इस प्रकार इस युग का भाषाविज्ञान यदि प्रणाली की दृष्टि से तुलनात्मक था तो विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक। फलतः तुलनात्मक भाषाविज्ञान और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर्यायवाची शब्द बन गये। मैक्समूलर, ह्विटनी, ब्रुगमैन आदि ने इस प्रकार के अध्ययन से एक आदि मौलिक भाषा की कल्पना की, जिसे भारत-जर्मन या भारत-यूरोपीय नाम दिया गया। इसका बड़े विस्तार के साथ अध्ययन हुआ। बाद में इसी आधार पर संसार की अन्य भाषाओं का भी पारिवारिक वर्गीकरण किया गया। पहले लोगों का ध्यान केवल प्राचीन भाषाओं की ओर था, पर बाद में आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में भी विचार किया जाने लगा। आधुनिक भारतीय भाषाओं का अनुसंधान करने वाले प्रमुख विद्वानों में बीम्स, हार्नले तथा ग्रियर्सन के नाम उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं का भी अध्ययन हुआ, पर अपेक्षाकृत कम। द्रविड़ परिवार की भाषाओं का अध्ययन करने वालों में काल्डवेल का नाम उल्लेख्य है। ग्रियर्सन ने पहले-पहल भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया जो अपने ढंग का अनूठा कार्य था। इन प्रारम्भिक कार्यों के बाद आधुनिक भाषाओं के अधिक गम्भीर विवेचन भी होने लगे। इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रांसीसी विद्वान् यूल ब्लॉख का हुआ, जिन्होंने मराठी, भारत-आर्य तथा द्रविड़ का पांडित्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। सर राल्फ़ लिली टर्नर का नाम भी इस सम्बन्ध में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने गुजराती तथा नेपाली डिक्शनरी के रूप में आर्य-भाषाओं के शब्दों पर तुलनात्मक कार्य किया। आजकल वे आर्यभाषाओं के व्योत्पत्तिक तुलनात्मक कोश को पूरा करने में लगे हुए हैं। इसी प्रकार आक्सफोर्ड के श्री बरो तथा अमरीका के एमेनो नामक विद्वान् द्रविड़ भाषा के व्योत्पत्तिक तुलनात्मक कोश में साथ-साथ जुटे हुए हैं। आशा है कि निकट भविष्य ये दोनों कोश हमें उपलब्ध हो सकेंगे। भारतीय विद्वानों में इस क्षेत्र में काम करनेवालों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाम डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का है, जिन्होंने अपने 'ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट आव बंगाली

लैंग्वेज' में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन को ऐसे व्यापक और विस्तृत रूप में प्रस्तुत कर दिया कि बाद की कुछ विशिष्ट कृतियों को छोड़कर—जैसे डा० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी भाषा का विकास' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का ब्रजभाषा-सम्बन्धी ग्रंथ—अन्य ग्रंथों में उनका अनुकरण और पिष्टपेषण मात्र होना स्वाभाविक हो गया।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का नया अध्याय प्रारंभ होता है स्विट्ज़रलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् फ़र्दिनाँद द सोसुर से, जिनका प्रसिद्ध सैद्धांतिक ग्रंथ १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने भाषा के सम्बन्ध में कई मौलिक बातें सामने रक्खीं, जिनसे परवर्त्ती अध्ययन असाधारण रूप से प्रभावित हुआ। इन्होंने भाषा के दो रूपों का निर्देश किया। एक तो वह है जिसको वस्तुतः भाषा नहीं, वाक् या भाषण मात्र कहना चाहिए। उसके लिए फ्रेंच भाषा में उन्होंने 'ल परोल' नाम दिया है। वह व्यक्तिपरक और प्रसंगपरक है। प्रत्येक व्यक्ति के भाषागत व्यवहार में बहुत भेद हैं। एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रसंगों में, भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियों, शब्दों और अर्थों का प्रयोग करता है। प्रत्येक बार जब कोई व्यक्ति बोलता है, तब वह नई भाषाई घटनाओं का सृजन करता है। किसी व्यक्ति ने आज जिस ध्वनि का उच्चारण किया, आज जिस शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध किया, वही कल ठीक-ठीक वैसा नहीं कर सकता। उसकी कल की भाषा-शैली आज की भाषा-शैली से भिन्न थी और इसी प्रकार आज की भाषा-शैली से आने वाले कल की भाषा-शैली भिन्न होगी। जहाँ एक ही व्यक्ति की भाषा के सम्बन्ध में इतने विभेद सम्भव हैं वहाँ जब इतने व्यक्तियों की भाषा के सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया जाता है, तब सहज ही हम उसके गतिशील रूप का अनुमान कर सकते हैं। देश और काल के विस्तार में फैले हुए व्यक्तियों के द्वारा भाषा की जो अगणित धाराएँ प्रवहमान हैं, उनमें क्षण-क्षण परिवर्तनशील गति व्याप्त है। इस प्रवृत्ति के कारण होने वाले भेद तत्काल भले ही न प्रकट हों; परन्तु दो-तीन पीढ़ियों में अथवा कुछ कोसों की दूरी पर अनायास स्पष्ट हो जाते हैं।

इसके विपरीत भाषा का एक दूसरा पक्ष वह है जो स्थिर कहा जा सकता है। इसके लिए सोसुर ने 'ल एतात द लांग' इस पदावली का व्यवहार किया है; अर्थात् 'किसी विशेष भाषा की एक निश्चित अवस्था'। इसी को उन्होंने 'लांग' अथवा वास्तविक भाषा की संज्ञा दी है। भाषा का यह रूप समाज-परिनिष्ठित है और व्यक्ति-निरपेक्ष। उसमें प्रसंगगत भेदों की उपेक्षा है, उसमें कल, आज, परसों के भेद के लिए स्थान नहीं है, उसमें मेरी भाषा और आपकी भाषा, उनकी भाषा

के भेद के लिए भी गुंजाइश नहीं है। वह समाजगत व्यवहार, व्याकरण, कोश और प्रयोग-बल आदि की अनेक व्यवस्थाओं में बँधी हुई है। भाषण या वाक् के रूप में जहाँ भाषा जीव-वैज्ञानिक तथा वंश-परम्परा-सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों से संचालित होती है, वहाँ वास्तविक भाषा के रूप में वह समाज से पोषण प्राप्त करके स्थिर आकार ग्रहण करती है। किसी विशेष समय में किसी भाषा के अन्तर्गत जो व्यवस्थाएँ काम करती हैं, उन्हीं के द्वारा वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध निर्बाध रूप में चलता रहता है।

भाषा के व्यक्तिपरक रूप के कारण उसमें जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनकी दृष्टि से जो अध्ययन किया जाता है, वही कालक्रमिक या ऐतिहासिक अध्ययन के रूप में प्रस्तुत होता है। उसके व्यक्ति-निरपेक्ष तथा समाज-सापेक्ष रूप का ध्यान करके जब किसी निश्चित काल में उसके अन्तर्गत काम करती हुई व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है तो उसके द्वारा उसका वह रूप प्रस्तुत होता है जिसको हम सांकालिक अथवा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान कह सकते हैं।

सोसुर ने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि भाषा ध्वनि या शब्दों का संग्रह-मात्र नहीं है, वरन् वह अनेक तत्त्वों की इकाइयों का एक सुनिश्चित सम्बन्ध हैं। इस सम्बन्ध या 'रिलाटा' के कारण ही अनेक इकाइयों के जोड़ने से भाषा एक व्यवस्थित रूप प्राप्त करती है। भाषा की यह अंतरंग व्यवस्था बड़ी महत्त्वपूर्ण है। परिस्थिति और प्रसंग-भेद से एक ही भाषा के कई रूप हो सकते हैं; जैसे—बोली जाने वाली हिन्दी, लिखित हिन्दी और तार की हिन्दी। ये सभी एक-दूसरी से भिन्न हैं, एक नहीं। प्रतीकों आदि की दृष्टि से इनमें बहुत अन्तर है, परन्तु इनमें व्यवहृत तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों या 'रिलाटा' में कोई परिवर्त्तन नहीं; वह एक है, वही भाषा का अंतरंग रूप है।

भाषा में इन इकाइयों का स्थान और पारस्परिक सम्बन्ध ये दो बातें बहुत महत्त्व की हैं। ये इकाइयाँ वस्तुतः भावानयन की प्रक्रिया का परिणाम हैं। ध्वनि की दृष्टि से इनका विवेचन करते हुए सोसुर ने स्वनिम (फ़ोनीम) का विचार प्रस्तुत किया, जिसका अध्ययन आज अमरीका आदि देशों में चरम विकास पर पहुँच रहा है। कोपनहेगेन के भाषाविदों ने ग्लासोमैटिक्स के रूप में इस प्रकार के विचारों को गणित की तरह अंकों में प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ एक बात विचारणीय है। भाषा को समाज-सापेक्ष मानते हुए भी क्या यह उचित है कि परिस्थिति और प्रसंग से उसका सर्वथा विच्छेद करके केवल उसके अंतरंग-तत्त्वों के सम्बन्धों या 'रिलाटा' पर ही निर्भर

रहा जाय ? भाषा वस्तुतः एक सामाजिक व्यवस्था है। समाज की विभिन्न परिस्थितियों और प्रसंगों में ही उसका व्यवहार होता है। परिस्थितियों के प्रति मनुष्य की जो प्रतिक्रिया होती है, उसी के एक अंग के रूप में भाषा का व्यवहार होता है। फिर जब भाषा का प्रसंग और परिस्थिति से ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है, तब उसकी नितांत उपेक्षा क्यों की जाय ? इस सम्बन्ध में पतंजलि ने नवाह्निक में स्पष्ट निर्देश किया है—

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मं नियमः।" उन्होंने भाषा के विवेचन में देश और काल दोनों पक्षों पर पर्याप्त बल दिया है। "अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्"—इस वाक्य ने कालपक्ष और 'सर्वे देशान्तरे'—इस वाक्य में देशपक्ष का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

इस सम्बन्ध में मैं यहाँ 'वाक्यपदीय' का निम्नलिखित कथन भी उद्धृत करना चाहता हूँ—

वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेवकेवलम्॥

(वाक्यपदीय—२-२-३१६)

यहाँ स्पष्ट निर्देश किया गया है कि भाषा के केवल रूप अथवा अंतरंग-व्यवस्था के आधार पर ही उसकी ध्वनि, शब्द और अर्थ का विवेचन नहीं किया जा सकता। इसके लिए प्रसंग, प्रकरण, काल और देश—इन सबकी आवश्यकता है। वस्तुतः लोक, काल और देश की पृष्ठभूमि के बिना न तो भाषा का व्यवहार सम्भव है और न उसका कोई विवेचन। सोसुर ने रूप पर ही अधिक बल दिया था पर हमारी भारतीय परम्परा में प्रकरण और संदर्भ को विशेष महत्त्व दिया गया है। मेरी दृष्टि में परिस्थिति और प्रसंग के प्रकाश में ही भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन सार्थक और सम्भव है।

कोई भी भाषा समाज के बहुविस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रस्फुटित व्यवहारों का समूह है। उसके इसी पक्ष को ध्यान में रखकर शब्द-शास्त्र को अनन्त कहा गया है। परिस्थिति और प्रसंग की अनन्तता के अनुसार किसी भी भाषा के अनन्त रूप सहज ही कल्पित किये जा सकते हैं। उसके इन अनन्त रूपों में से कोई व्यक्ति उसके कुछ रूपों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सभी का नहीं और उन्हीं विशिष्ट रूपों का वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव है। इसीलिए सीमित-से-सीमित क्षेत्र में ही किसी भाषा का अध्ययन आज के भाषा-विज्ञान की अपेक्षा है। इसी दृष्टि से आज जीवित भाषाओं के सांकालिक अध्ययन पर बल दिया जा रहा है। यह पुराने कालक्रमिक अध्ययन से भिन्न

है। इसमें प्रकरण और प्रसंग को भुलाया नहीं जा सकता, बल्कि उन्हें सम्यक् रूप से ध्यान में रखकर ही भाषा का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान को हम विशेष परिस्थितियों और प्रसंगों के बीच कार्य में संलग्न व्यक्तियों का अध्ययन कह सकते हैं। शरीर-जीवन-धारण की बहुविध क्रियाओं में, विविध व्यापारों में संलग्न व्यक्ति ही भाषा का व्यवहार करता है, इसलिए भाषा की व्यवस्थाएँ, गठन और ढाँचे क्रियाओं और व्यापारों में ही विकासमान होते हैं और उन्हीं के बीच उनका अध्ययन किया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्ययन और अनुसंधान की एक ऐसी परिपाटी स्वीकृत की जाय जिसमें एक समय में एक व्यक्ति का विधिवत् अध्ययन किया जा सके और उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित भाषा की व्यवस्थाओं की खोज की जा सके। यहाँ ध्यान रहे कि व्यक्ति कोई समाज-निरपेक्ष सत्ता नहीं माना जा सकता, वह किसी समाज के प्रतिनिधि के रूप में ही हमारे सामने आ सकता है और इसी रूप में ग्रहण करके हम उसे अपने अध्ययन का विषय बना सकते हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि रूप किसी एक व्यक्ति का अध्ययन करके हम उसके समाजगत भाषाई व्यवहारों का वैज्ञानिक अनुशीलन कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक वृत्तान्त मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। पिछले महायुद्ध के समय ब्रिटिश सेना के समक्ष यह समस्या उपस्थित हुई कि जापानियों के सामरिक व्योमयानों की गतिविधि की जानकारी कैसे प्राप्त की जाय और उनका कैसे नियन्त्रण किया जाय। आकाश में उड़ते हुये विमान-चालकों को जो आदेश दिये जाते थे, उनको समझे बिना यह असम्भव था। परन्तु ऐसी परिस्थिति में जापानी भाषा का सांगोपांग ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। यह तो किसी प्रकार सम्भव था नहीं। इसलिये तत्कालीन सामरिक प्रसग और परिस्थितियों में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों का ही अध्ययन प्रारम्भ किया गया। युद्ध के क्रियाकलाप में व्यवहृत इन ध्वनियों के रेकार्ड तैयार किये गये, उनका अनुलेखन किया गया और फिर भाषावैज्ञानिक प्रणाली से उनका विश्लेषण किया गया। इस प्रकार परिस्थिति, प्रसंग और व्यवहार से सम्बन्ध स्थापित करके गिरा और उसके व्यवहारगत अर्थ की संगति स्थापित की गई। इस प्रणाली से प्राप्त उपलब्धियों के द्वारा लगभग १० हज़ार व्योमचारी सैनिकों को जापानी भाषा की इतनी शिक्षा स्वल्पकाल में ही दे दी गई, जिससे इस क्षेत्र में सुगमता से अपने मतलब का काम चला लेने के लिये वे भाषा के व्यवहार से अवगत हो गये, भाषा का यह सार्थक और सफल अध्ययन-अनुसन्धान मेरी अपनी अध्ययन-संस्था 'स्कूल आफ़ अफ्रीकन एण्ड ओरिएंटल स्टडीज़' में ही

सम्पन्न हुआ था। इसलिये इस परिपाटी का मुझे कुछ ज्ञान है और इसीलिये भाषाविज्ञान के इस क्रियात्मक पक्ष की ओर आपका ध्यान मैंने आकर्षित किया है।

क्षेत्रीय कार्य के सिलसिले में जब हमें एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन करना पड़ता है, तब हमें उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही उनके सामुदायिक व्यापारों का भी अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रकार के अनुसन्धान और अध्ययन का सर्वोत्तम उदाहरण हमें प्रसिद्ध नृवंश-विज्ञानी मैलिनोवेंस्की के ग्रंथों में मिलता है। उसे आदर्श मानकर हम भी अपने यहाँ इस प्रकार के सामाजिक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं।

वस्तुतः समाज-विज्ञान, नृवंश-विज्ञान और भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के इसी पक्ष को ध्यान में रखकर हमने हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ की स्नातकोत्तर कक्षाओं में इस विषय में सम्यक् अध्ययन के लिये 'एथनोलिंग्विस्टिक्स' के नाम से एक पूर्ण अनिवार्य पत्र का समावेश किया है। भाषा-विज्ञान की इस शाखा के लिये नृवंशीय भाषा-विज्ञान की संज्ञा प्रयुक्त की जा सकती है। 'ऐन्थरोपोलोजिकल लिंग्विस्टिक्स' के नाम से ही अमरीका के इंडियाना विश्वविद्यालय से डा० फ्लोरेंस एम. बोवगैलिन के नाम से एक पत्रिका प्रकाशित होने लगी है जिसका मुख्य ध्येय सांकालिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रियात्मक नमूने प्रस्तुत करना और संसार भर की भाषाओं का प्रामाणिक संग्रह करना है।

किसी भाषा की शब्दावली उसके व्यवहार-क्षेत्र की संस्कृति का दर्पण है। हमें अपनी भाषा की दृष्टि से जो अर्थभेद आवश्यक प्रतीत होते हैं वे ऐसी अन्य भाषाओं के लिये सर्वथा उपेक्षणीय हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत उनसे भिन्न दूसरे ही प्रकार की संस्कृति प्रतिबिम्बित है। उनके बदले ऐसी भाषाओं में भी अर्थभेद के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जो हमारी भाषा के लिये बिल्कुल निरर्थक हो सकते हैं। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी सैपर के प्रभाव में बेंजामिन ली० होर्फ ने इन विचारों को और आगे विकसित किया। परन्तु खेद है कि इनके विचारों के अनुसार भाषा और संस्कृति की सामग्रियों के विश्लेषण का अब तक कुछ विशद कार्य नहीं हो सका है।

वास्तव में भाषाओं का प्रामाणिक संग्रह तथा भाषा-सर्वेक्षण दोनों ऐसे कार्य हैं, जिनके लिए पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित कार्यकर्ता आवश्यक हैं। इसका अभाव भी एक कारण था, जिससे दूसरी पंचवर्षीय योजना में भाषा-सर्वेक्षण

का कार्य स्थगित कर देना पड़ा। इस कमी को दूर करने के लिये ही रॉकफेलर फाउन्डेशन की सहायता से डेकन कालेज, पूना में एक 'स्कूल आव लिंग्विस्टिक्स' की स्थापना हुई थी, जिसके प्रति वर्ष दो सत्र पिछले पाँच वर्षों तक होते रहे हैं। इसके प्रथम विज़िटिंग प्रोफ़ेसर और संचालक के रूप में मैंने अपने विद्वान् सहकर्मियों के साथ जो कार्यक्रम आयोजित किया था उसका मुख्य लक्ष्य था अपने देश की भाषाओं और बोलियों का संग्रह और अनुसन्धान के लिए कम-से-कम समय में अधिक से-अधिक संख्या में योग्य कार्यकर्त्ता तैयार करना। इस कार्यक्रम की उपयोगिता और सफलता को देखकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सुविज्ञ अध्यक्ष डा० देशमुख ने अगले वर्ष के सत्र के संचालन के लिये आवश्यक अनुदान देने का वचन दिया है। हमारा विश्वास है कि यदि यह कार्यक्रम पाँच-दस वर्षों तक और चलता रहा तो इस क्षेत्र में कार्यकर्त्ताओं के अभाव की शिकायत नहीं रह जायगी।

भाषाओं के प्रामाणिक संग्रह और वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए ध्वनिविज्ञान की प्रयोगात्मक शिक्षा तथा यान्त्रिक अनुलेखन की व्यवस्था भी आवश्यक है। अपने देश में इसका प्रबन्ध न होने के कारण इसके लिए अब तक विदेशों में जाना अनिवार्य था। इसके लिए एक प्रयोगशाला डेकन कालेज, पूना में कुछ वर्षों से स्थापित थी, परन्तु उसमें कुछ वर्षों से केवल स्पन्दग्राह (Oscillograph) का काम प्रधानत: भौतिक विज्ञान की दृष्टि से होता रहा है। शुद्ध भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो ध्वनिविज्ञान-प्रयोगशाला अब हमारे हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ में स्थापित हुई है, वह देश में अपने ढंग की एक मात्र आयोजना है, जिसमें तालुग्राह, स्पन्दग्राह तथा ध्वन्यंकन (रेकार्डिग) के लिए आवश्यक यंत्रों की व्यवस्था की जा चुकी है। आवश्यक द्रव्य का प्रबंध हो सका तो निकट भविष्य में स्पेक्टोग्राफ और सोनोग्राम की भी व्यवस्था की जा सकेगी। इस आयोजन के कारण अब यह आवश्यक नहीं रहा कि ध्वनिविज्ञान के प्रयोगात्मक काम के लिए किसी को विदेश जाने को मजबूर होना पड़े। इस प्रकार इसके द्वारा निश्चय ही एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। भाषाविज्ञान के प्रयोगात्मक क्षेत्र में काम करने के इच्छुक विद्वानों तथा अनुसंधित्सुओं को मैं इस सुविधा का समुचित लाभ उठाने के लिए आमंत्रित करता हूँ।

इधर भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान के क्षेत्र में उसका व्यावहारिक पक्ष भी शनैः शनैः प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा है और यह प्रकट होता जा रहा है कि भाषावैज्ञानिक अनुसंधान के आधिविद्य महत्त्व के अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा प्रशासकीय नीतियों के निर्धारण और शैक्षणिक समस्याओं के समाधान

की दृष्टि से उसका व्यावहारिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अंतर्गत भाषा-शिक्षण-पद्धति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा है। ब्रिटेन और अमरीका में इस बात का अध्ययन किया जाने लगा है कि अँगरेज़ी को विदेशी भाषा के रूप में किस प्रकार अधिक-से-अधिक सुगमता से कम-से-कम समय में पढ़ाया जा सकता है। क्या हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में हम भी इस प्रकार का अनुसंधान नहीं कर सकते, जिससे एक प्रदेश के भाषाभाषी दूसरे प्रदेश की भाषा को अथवा हिंदी को कम-से-कम समय में अर्जित कर सकें ? इसके लिए एक विशेष दृष्टि से ध्वनियों के व्याकरणिक नियमों का और वाक्य की गठनों का अध्ययन अपेक्षित है।

भाषावैज्ञानिक अनुसंधान से उपलब्ध प्रणालियों का द्विभाषाभाषियों की दृष्टि से किस प्रकार प्रयोग किया जाय, किसी एक ही भाषा की विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों में कैसे उसका उपयोग हो इत्यादि प्रश्न विचारणीय हैं। पाठ्यपुस्तकों में किस प्रकार की सामग्री रक्खी जाय, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की कठिनाइयों को कैसे हल किया जाय, वैज्ञानिक शब्दावली का किस प्रकार निर्माण किया जाय, एक भाषाभाषी को दूसरी भाषा सिखाने के लिए भाषांतरण-व्याकरण की रचना कैसे की जाय, ये सारे विषय व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अंतर्गत ही आते हैं। भाषांतरण-व्याकरण में तुलनात्मक प्रणाली से समताओं और विषमताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है। हमारे देश में इस समय इस प्रकार के अनुसंधान की कितनी आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

विदेशी भाषाओं के शिक्षण के लिए भी व्यावहारिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है। अभी पिछले ही साल अमरीका में राष्ट्रीय-संरक्षण शिक्षा के लिए एक सार्वजनिक क़ानून बना है, जिसके अनुसार विभिन्न देशों के क्षेत्रीय अध्ययन के सिलसिले में आधुनिक विदेशी भाषाओं की शिक्षा देने की प्रणालियों का विकास किया जा रहा है। ऐसी ही कुछ व्यवस्था अपने देश में भी होनी चाहिए।

राजनीति तथा पारस्परिक व्यवहारों के क्षेत्र में एक-दूसरे को अपने पक्ष में मिलाने के लिए भाषा का किस प्रकार प्रयोग किया जाय; विवाद के परिणामों पर नियंत्रित शैली का किस प्रकार प्रवर्तन किया जाय; सार्वजनिक भाषण किस प्रकार दिए जायँ; रंगमंच पर विभिन्न जनवर्गों के लिए किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाय—इत्यादि विषय व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसंधानों के द्वारा ही आज समाधान प्राप्त कर रहे हैं।

अन्य विज्ञानों के समान भाषाविज्ञान के अध्ययन-अनुसंधान का भी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिविज्ञान-परिषद् और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-विज्ञानियों की कांग्रेस उसके इसी पक्ष का परिचायक है। हाल में ही अभी यूनेस्को की ओर से भी एक भाषा-आयोग संगठित हुआ था, जिसमें संसार की भाषाओं के सर्वेक्षण के सम्बन्ध में विचार हुआ था। संसार की भाषाओं और बोलियों का पर्याप्त रूप से वर्णन अभी नहीं हुआ है जिनसे उनका सम्यक् अध्ययन हो सके और जो वर्णन उपलब्ध हैं, वे भी इस रूप में नहीं हैं कि उनकी तुलना की जा सके; क्योंकि वे समान परिस्थितियों में और समान समस्याओं के समाधान की दृष्टि से नहीं किये गये हैं। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि देश-विदेश में प्रचलित भाषाओं और बोलियों का वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान और वर्णन किया जाय। भाषाएँ मानवीय संस्कृतियों की बहुत ही बारीक और संवेदनशील भूमिका है। वे उस प्रकाशपूर्ण दर्पण के समान हैं, जिनमें किसी समाज का पूर्ण प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इसलिए देश-विदेश के सामाजिक सम्बन्धों को समझने और समझाने की दृष्टि से ही आज भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान को नियंत्रित करना उचित है। भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान का लक्ष्य अभेद में भद स्थापित करना नहीं है, जैसा अभी कुछ ही समय पहले राज्यों के पुनस्संगठन के समय भाषाई विवादों को लेकर उपस्थित हुआ था प्रत्युत उसका आदर्श भेद में अभेद स्थापित करना है। वह एक ओर अतीत और भविष्य को वर्तमान में बाँधने का सूत्र है तो दूसरी ओर देश-देशान्तर के मनुष्यों के सबसे प्रबल सम्बन्ध-सूत्र भाषा-बोध की शक्ति को स्फुरित करके स्थायी विश्वशान्ति स्थापित करने का साधन है। भर्तृहरि की यह घोषणा अक्षरशः सत्य है:—

**"शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्यनिबन्धिनी।"**

(वाक्यपदीय)

भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान का यह आदर्श सफल हो!

डॉ० ए० चन्द्रशेखर

# भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन

## [भूत, वर्तमान और भविष्य]

भारत को उचित ही इस बात का गर्व हो सकता है कि भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य सुदूर वैदिक अतीत में सर्वप्रथम इसी देश में आरम्भ हुआ था और पश्चिम में भाषाविज्ञान के अध्ययन की धारणा उत्पन्न होने के लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। संस्कृत वैयाकरणों में मूर्धन्य पाणिनि को पाश्चात्य विद्वानों ने 'मानव मेधा का महानतम स्मारक' कहा है। इन विद्वानों ने मुक्त कंठ से यह भी स्वीकार किया है कि भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के मूल सिद्धान्तों और प्रणालियों के लिए संसार भारत का ऋणी है। लन्दन विश्वविद्यालय के डब्लू० एम० एलन ने 'फोनेटिक्स इन एनशिएन्ट इंडिया' नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है कि जहाँ उन्नीसवीं शती से पूर्व के यूरोपीय विद्वानों के भाषावैज्ञानिक ग्रन्थों का—विशेषतः उसकी ध्वनि-विज्ञान शाखा पर लिखे गये ग्रन्थों का—अध्ययन कोई विशेष मूल्य नहीं रखता वहाँ भारत के प्राचीन शिक्षा-शास्त्र और व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद है। इधर कोई तीन वर्ष पूर्व १९५६ में अमरीका के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर एम० बी० एमेनो ने अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी (अमरीकी पौर्वात्य समाज) में अपने सभापति-भाषण में इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा था कि केवल पाणिनि की पद्धति का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से ही संस्कृत भाषा का अध्ययन भाषाविज्ञान के लिए आवश्यक विषय होना चाहिए।

कई शताब्दियों के उज्ज्वल इतिहास के पश्चात् भारत में ज्ञान की अन्य

अनेक शाखाओं की भाँति ही भाषाविज्ञान का भी ह्रास हो गया। हम देखते हैं कि पातंजलि के महाभाष्य के उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय मौलिक कृति नहीं मिलती। उत्तरकालीन आचार्यों और भाष्यकारों ने व्याकरण और ध्वनिविज्ञान के प्राचीन ग्रन्थों की जैसी पिष्टपेषित व्याख्याएँ कीं कि उनसे न केवल उन दिग्गज महर्षियों की अनेक मान्यताएँ धूमिल पड़ गईं वरन् उनके सिद्धान्तों और विश्लेषण-पद्धतियों में अनेक भ्रांतियों का भी समावेश हो गया।

यद्यपि भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा के अन्यतम विवरण प्रस्तुत किए थे तथापि उन्होंने दुर्भाग्यवश भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। ऐसा स्पष्ट ही दो कारणों से हुआ—एक तो संस्कृत व्याकरण की परम्पराएँ आर्त्विजीन तथा वैदिक मन्त्रपाठी अन्य लोगों के लाभ के लिए संस्कृत भाषा के विवरण उपस्थित करने के निमित्त निर्मित हुई थीं और दूसरे यह कि संस्कृत वैयाकरण इतर भाषाओं को म्लेच्छ भाषा मानने के कारण उन्हें अध्ययन के अयोग्य समझते थे। यहाँ यह दृष्टव्य है कि तोल-काप्पियम तथा नन्नूल आदि तमिल व्याकरण-ग्रन्थों के 'रचनाकारों में भी तुलनात्मक दृष्टि के अभाव की त्रुटि विद्यमान है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोपियों द्वारा संस्कृत की खोज किए जाने पर ही आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में संसार की सभी बड़ी भाषाओं में भाषाविज्ञान-विषयक अध्ययन-कार्य होने लगा तथा परिणामस्वरूप यूरोपीय, द्रविड़ तथा अन्य भाषा-परिवारों पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। भारतीय भाषाओं पर कार्य करने वाले विद्वान्, चाहे वे धर्म-प्रचारक रहे हों अथवा सैनिक या असैनिक राजकर्मचारी, अधिकतर यूरोपीय थे। पूना के आर० जी० भण्डारकर जैसे कुछ व्यक्तियों को छोड़कर शेष भारतीय विद्वान् भाषाविज्ञान के अध्ययन की ओर से प्रायः उदासीन रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान-वेत्ताओं के परिश्रम के फलस्वरूप भारतीय भाषाएँ—भारतीय-आर्य, मुंडा और द्रविड़ इन तीन प्रमुख परिवारों में बाँटी गईं। उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर तिब्बत-बर्मी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ईरानी परिवार की छोटी-मोटी भाषाओं को भी मान्यता प्रदान की गई। यहाँ हम संक्षेप में इसी विषय में विचार करेंगे कि प्रत्येक परिवार की भाषा में अब तक कितना काम हो चुका है और अभी कितना होना बाकी है।

## भारतीय-आर्य भाषा-परिवार

नवविकसित भाषाविज्ञान के प्रारम्भिक-काल में वैदिक साहित्य और

लौकिक संस्कृत में यूरोपीय विद्वानों की अभिरुचि तुलनात्मक भाषाविज्ञान, धर्म के इतिहास और भारत यूरोपीय पुरावस्तुओं के स्रोत के रूप में ही थी। भारत-यूरोपीय के इस पक्ष पर यथेष्ट कार्य हुआ और इस काल के सम्बन्ध में व्याकरणों, शब्द-कोशों तथा अन्य अध्ययनों के अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। बोटलिंक (Bohtlingk) रचित पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन और सात अंकों में उनका संस्कृत-जर्मन वर्टरबुख, मोनियर-विलियम्स की संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, वाकरनेगल्स ( Wackernagel's ) का आलटिंडिश ग्रैमाटिक ( Altindische Grammatik ), थम्ब (Thumb) का 'हैंडबुक डेस संस्कृत' ( Handbuck des Sanskrit ), कार्ल कैपलर (Carl Cappelar) का संस्कृत वर्टरबुख (Sanskrit Warterbuch), ह्विटने ( Whitney ) की संस्कृत ग्रामर, मारिस ब्लूमफील्ड ( Maurice Bloomfield) का वैदिक कनकार्डेंस (Vedic Concordance), मैक्डानल (Macdonnell) का संस्कृत ग्रामर, लुई रेनो (Louis Renous') का 'वैदिके एट पनिनीनेस' (Vediques et panineennes) और 'हिस्त्वार ला लांग सेंस्रुति (Histoire de la langue Sansrite), जे० गोंडा का 'दी चैप्टर आफ इंडो-योरपीयन मूड्स विद स्पेशल रिगार्ड टु ग्रीक एंड संस्कृत' ऐसे ही कुछ ग्रन्थ है। भारोपीय की समस्याओं पर भंडारकर के प्रबन्ध, वटकृष्ण घोष का 'लिग्विस्टिक इंट्रोन्डक्शन टु संस्कृत', सिद्धेश्वर वर्मा का 'क्रिटिकल स्टडीज़ आन द फोनेटिक आब्ज़रवेशन्स आफ़ हिन्दूज़', मनमोहन घोष का 'स्टडी आफ़ पाणिनीय शिक्षा' आदि ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन भारतीय-आर्य भाषा-विषयक अध्ययन में भारतीयों के योगदान के रूप में किया जा सकता है। विश्व के भाषाविज्ञान और प्राच्य अध्ययन विषयक प्रमुख पत्रों में प्रति वर्ष ही प्राचीन भारतीय-आर्य के व्युत्पत्ति-विषयक तथा अन्य प्रकार के अध्ययन प्रकाशित होते रहते हैं। बड़े संतोष की बात है कि अपने देश में महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण तैयार करने और ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर आधारित एक संस्कृत कोश तैयार करने की कुछ बृहत् योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

भारतीय-आर्य भाषाओं की ओर भारतीय विद्वानो ने उस समय भी बहुत कम ध्यान दिया था जबकि संस्कृत व्याकरण की परम्परा अभी निर्माण की अवस्था में ही थी। वररुचि की प्राकृत प्रकाशिका और चन्द्र के व्याकरण आदि एकाध ग्रन्थों को छोड़कर आरम्भिक-काल में प्राकृत का कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया। आज भी मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं की ओर भाषाविज्ञ यथेष्ट ध्यान नहीं दे रहे।

वास्तव में तो अशोक के धर्मादेशों के प्राप्त होने के बाद ही पाश्चात्य विद्वानों ने मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं में दिलचस्पी लेनी आरम्भ की थी। मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं के विभिन्न रूपों का एक अत्यन्त सुन्दर अध्ययन पिशेल ने १९०० में प्रकाशित किया था। तब से धर्मादेशों की भाषा और विभिन्न बोलियों में पाए जाने वाले जैन और बौद्ध-धर्म ग्रन्थों के विषय में अनेक अध्ययन प्रकाशित हो चुके हैं। १९५३ में फ्रेंकलिन एजर्टन ( Franklin Edgerton ) ने बौद्ध-धर्म की उत्तरी शाखा की मध्य भारतीय-आर्य का प्रतिनिधित्व करने वाली शाखा बौद्ध वर्णसंकर संस्कृत पर एक अविस्मरणीय रचना प्रकाशित की थी। एस० के० चटर्जी और सुकुमार सेन द्वारा सम्पादित 'मध्य भारत-आर्य रीडर' भी, जो गत वर्ष प्रकाशित हुई थी, उल्लेखनीय है। इसके द्वितीय भाग में व्याकरण और व्युत्पत्ति-सम्बन्धी प्रचुर टिप्पणियाँ दी हुई हैं। किन्तु मध्य भारतीय-आर्य भाषा के विषय में जो विशद सामग्री उपलब्ध है उसकी ऐतिहासिक व्याख्या के सम्बन्ध में अभी बहुत-सा निर्धारणात्मक कार्य होना शेष है।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं पर कार्य अभी अधिक विकसित अवस्था में नहीं है। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के अध्ययन का सूत्रपात बीम्स (Beams) ने उन्नीसवीं शताब्दी में किया था लेकिन बहुत काल तक इस क्षेत्र में बहुत ही कम कार्य हो सका। वर्तमान शताब्दी में विद्वानों ने इस दिशा में पुनः कार्य आरम्भ किया। स्वर्गीय प्रो० यूल ब्लॉख लिखित वेदों से लेकर आधुनिक भाषाओं तक की रूपरेखा 'Outline of an Historical Account of Indo-Aryan' तथा मराठी पर उन्हीं का और भी विस्तृत ग्रंथ, एस० के० चटर्जी का बँगला पर युगांतरकारी ग्रन्थ, काकती का 'असमिया का अध्ययन', बाबूराम सक्सेना का 'अवधी का विकास' (Evolution of Avadhi), धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रजभाषा' और उदयनारायण तिवारी का 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' आदि इस क्षेत्र में कुछेक उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। यहाँ सर राल्फ टर्नर के ग्रन्थ 'नेपालीज़ डिक्शनरी' की विशेष रूप से चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि हमारे लिए आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के व्युत्पत्ति-ज्ञान का वही एकमात्र सहज साधन है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के अच्छे एवं आधुनिक विवेचन अभी भी अप्राप्य हैं। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का कोई अच्छा व्युत्पत्ति-कोश भी अभी प्रकाशित नहीं हुआ। किन्तु भारतीयों, यूरोपियों और अमरीकियों के संगठित प्रयास से इस अभाव की कम से कम अंशतः पूर्ति सम्भवतः शीघ्र ही हो सकेगी।

ग्रियर्सन की पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' देश की समस्त भाषाओं का विवरण प्रस्तुत करने और भाषाओं के आधार पर देश का मानचित्र स्थिर करने का प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। किन्तु इसे आंशिक रूप में ही सफल माना जा सकता है क्योंकि इसकी सामग्री सर्वथा प्रामाणिक नहीं है। फिर भी भारत की भाषाओं और बोलियों के प्रारम्भिक अध्ययन के लिये इसमें आश्चर्यजनक और प्रचुर सामग्री है। भारतीय भाषाओं के नये सर्वेक्षण की अब तुरन्त आवश्यकता है और इस दिशा में क़दम उठाने के लिए विद्वान भारत-सरकार से निरन्तर अनुरोध कर रहे हैं। आशा है कि सरकार विधिवत् प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं द्वारा किये जाने वाले सर्वेक्षण की उपयोगिता का महत्व समझेगी। इस प्रकार का सर्वेक्षण अविलम्ब होना चाहिये क्योंकि अनेक साहित्य-विहीन बोलियाँ बड़ी जल्दी लुप्त होती जा रही हैं और उनके पूर्णरूपेण मिट जाने के पूर्व ही उनके ध्वनि-आलेखन तैयार कर लेना समीचीन होगा।

## द्रविड़ परिवार

द्रविड़ भाषाएँ बोलने वालों की संख्या ९ करोड़ होने के नाते संसार की भाषाओं में उनका स्थान पाँचवाँ या छठा ठहरता है। द्रविड़ भाषाओं में तमिल सर्वाधिक प्राचीन है और उसका इतिहास लगभग ईसा के समय से आरम्भ होता है। कालावधि की दृष्टि से तमिल के पश्चात् क्रमशः तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम का स्थान है। पाणिनि तथा संस्कृत के अन्य वैयाकरणों और ध्वनि-विज्ञों की प्रेरणा से ईसवी शताब्दी के आरम्भ में ही तमिल में व्याकरण तैयार होने लगे थे। 'तोलकाप्पियम' आज भी प्राप्य है। तेरहवीं शताब्दी में तमिल का एक और विशद व्याकरण 'नन्नूल' उपलब्ध हुआ। लगभग इसी समय तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में व्याकरणों की रचना हुई।

द्रविड़ भाषाओं का प्रथम व्यापक सर्वेक्षण करने का श्रेय धर्मप्रचारक विद्वान राबर्ट काल्डवैल को है जिन्होंने द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण का प्रथम संस्करण १८५६ में प्रकाशित किया था। उस समय तक भारतीय-आर्य भाषाओं के विषय में इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं निकला था और यूरोप में भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। प्रथम ग्रंथ होने के नाते तथा अपेक्षाकृत न्यून सामग्री पर आधारित होने के कारण काल्डवैल के ग्रन्थ में अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक ही है। काल्डवैल के तुलनात्मक व्याकरण के पश्चात् एच० गुंडर्ट ने मलयालम व्याकरण और शब्दकोश, किटेल ने कन्नड़ व्याकरण और शब्दकोश तथा सी० पी० ब्राउन से तेलुगु शब्दकोश आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये। ए० एच० आर्डेन

ने तमिल और तेलुगु के बोलचाल के रूपों पर व्याकरण-ग्रन्थ लिखे जो अपनी कुछ कमजोरियों के बावजूद आज भी इसलिये प्रचलित हैं कि इस विषय पर उनसे अच्छे ग्रन्थों की रचना ही नहीं हुई। अभी पिछले दिनों अमरीकी विद्वान डब्ल्यू० वाइट ने बोलचाल की कन्नड़ का एक व्याकरण पूना से प्रकाशित किया था।

द्रविड़ परिवार की साहित्य-विहीन कुछ बोलियों का अध्ययन अधिकांशत: धर्मप्रचारकों ने किया और दक्षिण भारत की तुलु, मध्य भारत की गोंडी और कुरुख के संक्षिप्त विवरण गत शताब्दी में प्रकाशित हुये। सर डेविश ने बलूचिस्तान की ब्राहुई बोली का व्याकरण इस शताब्दी के आरम्भ में प्रकाशित किया। नीलगिरि में बोली जाने वाली कोटा और मध्य भारत में बोली जाने वाली पारजी और ओल्लारी के अध्ययन अभी हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। इन सबके बावजूद द्रविड़ परिवार की साहित्य-विहीन बोलियों के गहन अध्ययन की तत्काल आवश्यकता है।

काल्डवैल के प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् लगभग अर्ध-शताब्दी तक द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य प्राय: रुक-सा गया। तत्पश्चात् स्वर्गीय प्रो० एल० वी० रामस्वामी अय्यर ने इस विषय पर अनेक प्रबन्ध प्रस्तुत किये। प्रो० अय्यर ने मलयालम के ध्वनिविज्ञान और रूपविज्ञान पर उत्कृष्ट निबन्ध लिखे। भारत-यूरोपीय पद्धति-प्रक्रिया के कठोर प्रशिक्षण, सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं और कई यूरोपीय भाषाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण रामस्वामी अय्यर द्रविड़ भाषाओं के भाषा-विज्ञान विषयक अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयुक्त व्यक्ति थे। उनकी अकाल मृत्यु से भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में भारत की अपार क्षति हुई है।

द्रविड़ भाषाओं के विवरण निम्न स्तर के होने के कारण द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक कार्य में बड़ी बाधा पड़ी है। १९४६ में ब्लॉख ने 'स्ट्रक्चर ग्रेमेटिकल डेस लेंग्वेस ड्रेवेडियन' नामक अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया था जो द्रविड़ भाषाओं के रूप-विचार का तुलनात्मक ग्रन्थ है। कन्नड़ और मलयालम की आरम्भिक अवस्थाओं के ऐतिहासिक विवरणात्मक व्याकरण प्रकाशित हो चुके हैं। द्रविड़ भाषाओं के अच्छे विवरणात्मक और ऐतिहासिक व्याकरणों की अभी भी बड़ी आवश्यकता है। बरो और एमेनो द्वारा रचित द्रविड़ भाषाओं का एक व्युत्पत्ति-कोश इन दिनों इंग्लैंड में छप रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' में दक्षिण भारत के राज्यों को नहीं छुआ

..गा था। इस ग्रन्थ के चतुर्थ भाग में द्रविड़ और मुंडा भाषाओं का संक्षिप्त-सा उल्लेख है। साहित्य-विहीन द्रविड़ बोलियों का हमारा ज्ञान बहुत ही अधूरा है; जान पड़ता है कि अभी उनमें से कई की तो खोज होनी बाकी है जैसा कि पारजी के अन्वेषण से विदित होता है।

## मुंडा परिवार

मुंडा भाषाओं के अब तक के उपलब्ध विवरण असंतोषजनक हैं और 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' में भी उनकी चर्चा नाम मात्र को की गई है। इस वर्ग की कुछ गौण भाषाएँ अभी अभिलिखित होनी शेष हैं। मुंडा भाषाओं में तुलनात्मक कार्य तो अभी हुआ ही नहीं है। जैसा कि एमेनो ने संकेत भी किया है—मुंडा का आस्ट्रो-एशियाई परिवार की भाषाओं से सम्पर्क स्थापित करने और उसे मलयो-पोलीनीसियन के साथ महान् आस्ट्रिक परिवार में स्थान देने के कुछ विद्वानों के प्रयास को अभी तक सफल नहीं माना जा सकता।

## सीमान्त क्षेत्रों की भाषाएँ

उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमान्त-क्षेत्रों की तिब्बत-बर्मी भाषाओं और पश्चिमी सीमान्त क्षेत्रों की ईरानी भाषाओं तथा सीमान्त क्षेत्रों की ही बुरुशास्की, खासी तथा अन्य गौणतर भाषाओं के आधुनिक ढंग के विवरण लगभग अप्राप्य ही हैं। ईरानी के अतिरिक्त इनमें से अन्य किसी भाषा के सम्बन्ध में कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुआ है।

## प्रशिक्षण और अनुसंधान

भाषा-विज्ञान के कार्यकर्ता प्रशिक्षित करने और अनुसंधान-परियोजनाएँ संगठित करने के सम्बन्ध में कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोड़ अन्य विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा-प्रतिष्ठानों में १९३९ तक बहुत कम काम हुआ था। उक्त वर्ष में डकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई और उसमें भाषाविज्ञान का एक विभाग रखा गया। किन्तु डकन कालेज में भी अभी पिछले दिनों तक, जब तक कि उसे अमरीका के राकफैलर फाउंडेशन से काफ़ी वित्तीय सहायता नहीं मिलने लगी थी, कोई विशेष कार्य नहीं हो सका था। अब लगभग पाँच वर्ष से डकन कालेज भाषा-विज्ञान के ग्रीष्मकालीन एवं शिशिरकालीन संक्षिप्त पाठ्यक्रमों का संचालन कर रहा है जिनमें से कुछ उत्तर और दक्षिण भारत के केन्द्रों में आयोजित होते हैं। साथ ही यह भी सन्तोषप्रद है कि १९२६ में स्थापित लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ़ इंडिया (भारतीय भाषाविज्ञान समाज) जो अनेक वर्षों से निष्क्रिय था अब फिर सक्रिय हो गया है और सुचारु रूप से

कार्य कर रहा है। महत्त्व की दृष्टि से लिंग्विस्टिक सोसाइटी श्राफ़ इंडिया से कुछ कम किन्तु सक्रियता में उससे कुछ अधिक दिल्ली का लिंग्विस्टिक सर्किल (भाषाविज्ञान-मंडल) है जिसके सदस्य न केवल देश के विभिन्न भागों के भारतीय ही हैं वरन् अनेक विदेशी भी हैं। आगरा विश्वविद्यालय के तत्वावधान में स्थापित के० एम० इंस्टीट्यूट आफ हिन्दी स्टडीज़ एंड लिंग्विस्टिक्स कदाचित् उत्तर भारत में भाषाविज्ञान के अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। गत तीन-चार वर्षों में कई अन्य विश्वविद्यालयों ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में शिक्षा और अनुसंधान का कार्य आरम्भ किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दिल्ली का लिंग्विस्टिक सर्किल एक भाषा अनुसंधान प्रतिष्ठान की स्थापना कर रहा है जिसके अवैतनिक निर्देशक भारतीय भाषाविज्ञान के अग्रणी डा० सिद्धेश्वर वर्मा होंगे।

भारत के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख के सभापतित्व में १९५७ में पूना में विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों का एक सम्मेलन हुआ था। बहुत कुछ इस सम्मेलन के परिणाम-स्वरूप हमारे शिक्षा-विशेषज्ञों और शासक-वर्ग में भाषा-विज्ञान के प्रति थोड़ी रुचि उत्पन्न हुई है। इसलिये भारत में भाषाविज्ञान के अध्ययन के स्तर के बारे में इस संक्षिप्त सर्वेक्षण को अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी के सभापति एम० बी० एमेनो के इन शब्दों के साथ समाप्त करना उचित होगा :

"पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के उषःकाल में प्रकाश अवश्य ही भारत से प्राप्त हुआ। वर्तमान काल में भारत में भाषा-विज्ञान के प्रति नई जागृति उत्पन्न होने से हम भारत से नया प्रकाश पाने की अपेक्षा रखते हैं।" हमें आशा करनी चाहिये कि भाषाविज्ञान को विकसित करने और चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने वाले हमारे प्राचीन महान् संस्कृत वैयाकरणों के आधुनिक प्रतिनिधियों के प्रयत्नों से उपरोक्त लालसा पूरी होकर रहेगी।

## परिशिष्ट

पश्चिम में भाषा-विज्ञान का जिस रूप में विकास हुआ है उसकी निम्न-लिखित महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं :

(१) विवरणात्मक भाषा-विज्ञान, जिसमें ध्वनि-विज्ञान, ध्वनि-तत्व-विज्ञान, रूप-विचार, कोश-निर्माण, शैली-विज्ञान और अर्थ-विचार आदि सम्मिलित हैं, (२) ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान जिसका विषय भाषाओं का इतिहास है, और (३) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान जिसका विषय भाषाओं के इतिहासों और रूपों के आधार पर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है जिससे कि ऐतिहासिक

दृष्टि से सम्बद्ध भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध और उनके मूल रूप का निर्धारण हो सके। विवरणात्मक भाषा-विज्ञान ही ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का आधार होता है। किसी भी भाषा की विभिन्न अवस्थाओं को जानने पर ही हम उसके इतिहास को जान सकते हैं। इसी प्रकार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भी सभी सम्बद्ध भाषाओं के विस्तृत विवरणों पर आधारित होना चाहिए। संक्षेप में, भाषा-विज्ञान क्रमशः विवरणात्मक से आरम्भ होकर ऐतिहासिक से होते हुए तुलनात्मक पर समाप्त होना चाहिए।

किन्तु अजीब बात है कि पश्चिम में भाषा-विज्ञान के इतिहास का क्रम इससे ठीक उल्टा रहा है। संस्कृत की खोज ने जैसे ही उन्हें भाषाओं के सम्बन्ध के प्रति जागरूक बनाया वैसे ही वे सीधे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की ओर टूट पड़े।

भाषाओं के अत्यन्त विस्तृत और वस्तुपरक विवरण प्रस्तुत करने की संस्कृत वैयाकरणों की परिपाटी के प्रति वे लगभग इस शताब्दी के आरम्भ तक उदासीन बने रहे। परिणामस्वरूप भारोपीय भाषाओं के संबंध में ऐसा बहुत-सा तुलनात्मक कार्य हुआ जो कुछ हद तक उन भाषाओं के इतिहास और उनके वर्तमान रूपों के विषय में समुचित अध्ययन के अभाव से ग्रस्त था।

गत शताब्दी में भारत में जो कुछ हुआ वह सम्बद्ध भाषाओं के ऐतिहासिक और विवरणात्मक व्याकरण तैयार करने के पूर्व ही तुलनात्मक अध्ययन आरंभ कर लेने की यूरोपीय प्रणाली का ही सच्चा प्रतिबिम्ब था। इसका परिणाम पश्चिम की अपेक्षा भारत में आधुनिक भाषा-विज्ञान की प्रगति के लिए कहीं अधिक घातक सिद्ध हुआ है क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों को कम से कम ग्रीक और लेटिन भाषाओं के रूपों की तो पूरी जानकारी होती थी।

भारतीय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आज सबसे बड़ी आवश्यकता है कि सभी भाषाओं और कम से कम बड़ी भाषाओं की प्रमुख बोलियों के अच्छे विवरणात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण अविलम्ब तैयार किए जाएं। उपरोक्त विषय में बँगला, मराठी, हिन्दी और मलयालम इन चार भाषाओं को छोड़ अन्य भाषाओं में प्राप्य अध्ययन सामग्री-विवरणात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आधुनिक आवश्यकताओं के देखे बहुत अपर्याप्त है।

भारतीय भाषाओं के विवरणात्मक व्याकरण तैयार करने में ध्वनि-विज्ञान और रूप-विचार विषयक विश्लेषण की नव-विकसित पाश्चात्य प्रणालियों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। किसी भी भाषा की प्रमुख बोलियों के ध्वनि-आलेखन और वातावरण की दृष्टि से उनके रूप-

विचार का वस्तुपरक विवरण वाक्यों में प्रस्तुत करने की अमरीकी प्रणालियाँ वांछनीय हैं। वास्तव में तो प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों ने ही इनका सूत्रपात किया था और उन्हीं से यूरोपियनों ने इन्हें सीखा था किन्तु विविध रूपों वाली अनेक भाषाओं पर इन प्रणालियों का व्यवहार होने से आधुनिक उपायों का आधार सचमुच व्यापक हो गया है। सी० एफ० हाकेट की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'A course in Modern Linguistics' में इन प्रणालियों का विस्तृत वर्णन है।

किसी भी विवरणात्मक व्याकरण के विवेचन जीवित भाषा के सावधानीपूर्वक किए गए निरीक्षणों पर आधारित होने चाहिएँ। उदाहरणार्थ हिन्दी में लिंग-बोध के विवरण प्रस्तुत करने में यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दी-क्षेत्र के कुछ भागों में स्त्रियाँ क्रियाओं के स्त्री-लिंग रूप का प्रयोग नहीं करतीं। संज्ञाओं के लिंग-रूपों के विषय में स्थानिक मतभेदों तथा कुछ संज्ञाओं के लिंग-रूपों के विषय में कुछ हिन्दी-भाषियों के बीच फैली हुई भ्रांतियों को भी यथा-सम्भव अभिलिखित करना चाहिए। हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न भागों में विविध रूपों में बोली जाने वाली हिन्दी के ध्वनि-विज्ञान, रूप-विचार, वाक्य-रचना और अर्थ-विचार सम्बन्धी सभी पहलुओं का हिन्दी भाषा के विवरणात्मक व्याकरण में पूरा उल्लेख होना चाहिए।

विभिन्न भारतीय भाषाएँ आज कहाँ और किस रूप में बोली जाती हैं इसका सही अध्ययन करके ही हम उन भाषाओं के इतिहास, आपसी सम्बन्धों और एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव को समझ सकते हैं। इस दृष्टि से भाषा के आधार पर समूचे देश का सर्वेक्षण नितान्त आवश्यक हो गया है। इस शताब्दी के आरम्भ में प्रकाशित ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' का सबसे बड़ा दोष यह है कि उस ग्रन्थ के लिए सामग्री ऐसे लोगों ने एकत्रित की थी जिनकी न तो भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान में कोई दिलचस्पी थी और न जिन्हें उसका कोई प्रशिक्षण ही प्राप्त हुआ था। इसलिए इस ग्रन्थ की 'ध्वनि-विज्ञान' विषयक सामग्री विशेष रूप से अविश्वसनीय है। सामग्री का अधिकांश भाग अनुवाद के द्वारा संगृहीत किया गया है जो कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त अनुपयुक्त है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' का एक और प्रमुख दोष विभिन्न बोलियों के समुचित अध्ययन का अभाव है। अतएव भारत में एक नया भाषा-सर्वेक्षण अविलम्ब अपेक्षित है। साथ ही यह सर्वेक्षण विवरणात्मक भाषा-विज्ञान की नवीनतम पद्धतियों का उपयोग कर सकने वाले प्रशिक्षित भाषाविज्ञों द्वारा किया जाना चाहिए।

भारतीय भाषा-विज्ञान के नए सर्वेक्षण में तथ्यों का संग्रह और वर्गीकरण इस प्रकार होना चाहिए :

(१) **सामान्य ( अथवा विशुद्ध ) भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण**—यह प्रथम चरण है और इसके अन्तर्गत शब्द-भंडार, पदावली, वाक्यों, वाक्य-समुदायों और लोक-साहित्य आदि सामग्री संगृहीत और समन्वित की जाती है।

यह सामग्री इंटरनेशनल फ़ोनेटिक एसोसिएशन की लिपि और रायल एशियाटिक सोसाइटी की लिप्यन्तर-प्रणाली में आवश्यकतानुसार संशोधन करके अभिलिखित कर लेनी चाहिए। प्रत्येक अध्ययन सामग्री के व्यापकतम और गहनतम संग्रह-कार्य पर आधारित होकर विवरणात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का सर्वांगीण एवं सम्पूर्ण अध्ययन होना चाहिए।

(२) **बोली-भूगोल तथा भाषा-वैज्ञानिक मानचित्र**—सामान्य सर्वेक्षण के उपरान्त गवेषणा की यह एक विशिष्ट दिशा है जिसके अन्तर्गत किसी भाषा की विभिन्न बोलियों की कुछेक प्रवृत्तियों का सीमित परन्तु साथ ही गहन अध्ययन आवश्यक होता है। इस गवेषणा के आधार पर बोलियों की विशेषताओं के अनुसार मानचित्र तैयार किये जाते हैं। किसी बोली का सर्वेक्षण करने की प्रणाली नीचे वर्णित है।

(३) **व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ**—यह विभिन्न बोली-क्षेत्रों में व्यक्ति एवं स्थानवाचक नामों का अध्ययन है।

सर्वेक्षण के लिए सामग्री एकत्र करने और उसका विश्लेषण करने में टेप रिकार्डर और कीमोग्राफ़ बहुत सहायक होते हैं। सामग्री के यथासंभव सांख्यिकीय विश्लेषण से अध्ययन वस्तुतः वैज्ञानिक हो जाएगा।

बोलियों का मानचित्र तैयार करने के लिए बोलियों के सम्बन्ध में सामग्री एकत्र करने और उनका वर्गीकरण करने का तरीक़ा इस प्रकार है :—

(१) किसी भी प्रदेश का प्रारम्भिक सर्वेक्षण यह जानने के लिए किया जाना जाना चाहिए कि उसके विभिन्न भागों में प्रयोग के प्रचलित रूप किस प्रकार भिन्न हैं और इस दृष्टि से भी कि प्रयोग की दृष्टि से प्रदेश किस प्रकार विभक्त है।

(२) इस प्रकार दो विभिन्न संदर्भ-रूपरेखाएँ तैयार कर ली जाती हैं। एक उन भौगोलिक स्थानों की सूची होती है जहाँ पर प्रयोगों की विस्तृत रूप से जाँच की जाती है। दूसरी सूची प्रयोग के विषयों में की होती है।

(३) क्षेत्र-कार्यकर्ता प्रदेश में घूमते हैं और निर्धारित स्थानों पर रुककर उपयुक्त सूचना दे सकने योग्य व्यक्तियों की सहायता से प्रश्नावली के उत्तर लिख लेते हैं। बहुधा उत्तरदाता उन वृद्ध लोगों में से चुने जाते हैं जो उस स्थान पर बचपन से रहते आए हों।

(४) समस्त प्रदेश की सूचना संगृहीत हो जाने पर विभिन्न प्रयोगों को इंगित करने वाले क्षेत्र दर्शाते हुए समस्त प्रदेश के मानचित्र तैयार किये जाने चाहिएँ।

सर्वेक्षण के लिए विविध विषय चुने जा सकते हैं, उदाहरणार्थ :

(१) ऐसे शब्द अथवा पदोच्चय जो प्रायः इस प्रकार के अर्थ व्यक्त करते हैं :—'जल ले जाने का बड़ा पात्र', 'जल पीने का छोटा पात्र' 'कोई खाद्य पदार्थ' आदि।

(२) किसी भी शब्द का अलग-अलग क्षेत्रों में प्रचलित अलग-अलग अर्थ;

(३) किसी भी शब्द का उच्चारण।

(४) दो रूपों का ध्वनि-तात्विक साम्य अथवा विभेद, जैसे लोटा और लौटा।

(५) कुछ शब्दों का लिंग-विचार, उदाहरणार्थ हिन्दी संज्ञाओं के साथ लिंग-भेद का प्रयोग होता है।

जिस प्रदेश में सर्वेक्षण किया जाए उसके एक नक़्शे में प्रयोग की विभिन्न विशेषताओं को विभिन्न प्रतीकों से अथवा समन्वित रेखाओं से प्रदर्शित करके प्रयोग की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित कर ली जाएँ।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र की कुछेक समस्याएँ जिन पर अनुसंधान-कार्य प्रतीक्षित है और जिनका हिन्दी से भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरोकार है इस प्रकार हैं :—

(१) प्राचीन वैयाकरणों ने जिन विभिन्न प्राकृत बोलियों की चर्चा की है उनमें और विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषाओं के बीच ऐतिहासिक सम्बन्धों की स्थापना;

(२) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा लिखित 'इण्डो-आर्यन इन हिन्दी' में पृष्ठ संख्या ६१–६२ पर इंगित किये गये मध्य भारतीय आर्य भाषा में अर्ध-तत्सम और देशीय तत्वों का विवेचन;

(३) भारतीय-आर्य में अनार्य तत्वों का और उनके सम्भव स्रोतों का निर्धारण;

(४) भारत के तीन प्रमुख भाषा-परिवारों के बीच उन ऐतिहासिक सम्बन्धों का अनुसंधान जिनके कारण समस्त भारतीय भाषाओं में अनेक समानताएँ पाई जाती हैं;

(५) भारतीय भाषा-विज्ञान के प्रागैतिहासिक काल और सिंधु घाटी सभ्यता के नाम से विदित युग की वस्तुओं में अभिलिखित भाषा या भाषाओं के स्वभाव का विवेचन ।

डॉ० ताराचन्द

# इतिहास और साहित्य

मेरे व्याख्यान का विषय इतिहास है। इतिहास किसे कहते हैं और इतिहास कैसे लिखा जाता है, इतिहास में शोध का क्या स्थान है—इन्हीं प्रश्नों पर मैं रोशनी डालने का यत्न करूँगा। लेकिन इसी के साथ हिन्दी साहित्य में इतिहास के स्थान पर भी निगाह डालना ज़रूरी है।

हमारे देश में इतिहास की तरफ़ रुचि कम रही है। पुराने काल में इतिहास का अर्थ था पुराणों की कथाएँ, जिनमें तथ्य की मात्रा थोड़ी और आख्यान का परिमाण अधिक था। आज भी यूनिवर्सिटियों में विद्यार्थियों का इधर कम ध्यान है। आर्ट्स फ़ैकल्टी में हिन्दी के पढ़ने वाले बहुत मिलेंगे, और विषयों के विद्यार्थी भी कम गणना में नहीं, पर इतिहास की क्लासों में संख्या थोड़ी ही होगी। अर्थशास्त्र, साइंस की तरफ़ खिचाव बहुत है। यह आधुनिक शास्त्र हैं। इनके जानने वालों की बड़ी माँग है। इसी कारण इनको सीखने का चाव है।

आजकल के शिक्षा के क्रम में विषयों को अलग-अलग कर देने का यह नतीजा है कि ज्ञान ज्ञान नहीं रहा, टुकड़ों में बँट गया है। यह अच्छा नहीं। बुद्धि, जो ज्ञान का साधन है, एक समुचित अटूट वस्तु है, ज्ञान के विभागों पर अलग-अलग लगे रहने से इसकी अखंडता पर आघात होता है, इसकी सर्वज्ञता में बाधा आती है जो हमारी मानवता की पूर्णता में त्रुटि डालती है। विश्व-विद्यालयों में तो हमें पूर्ण ज्ञान की खोज करनी चाहिए। साइंस, इतिहास, भाषा और साहित्य सब ज्ञान के अंग हैं, एक वृक्ष की शाखाएँ हैं। एक प्रकाश के विभिन्न रंग हैं। इनकी सेवा-शुश्रुषा एकांगी नहीं होनी चाहिए।

इतिहास की जानकारी वास्तव में इसी सर्वांगीण ज्ञान के सहारे ही हो सकती

है। इस निगाह से देखें तो इतिहास की रूपरेखा समझ में आ सकती है। इतिहास क्या है, जानने से पहले देखना यह है कि इतिहास क्या नहीं है? इसके लिए इतिहास के इतिहास पर गौर करना ज़रूरी है।

मैंने शुरू में कहा था कि हमारे इतिहास के पुराने ज़माने में इतिहास नहीं था। इतिहास का शब्द तो था पर इसका अर्थ कुछ और था। रामायण और महाभारत की बातों को, पुराणों की कहानियों को इतिहास का नाम दे दिया था। इनमें आज के इतिहास के ढंग से न घटनाओं के काल का निर्णय है न व्यक्तियों और समूहों के जीवन का क्रमबद्ध वर्णन। पुराणों में पांच विषय हैं: सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश और वंशानुचरित। इनमें सृष्टि की उत्पत्ति और लय का ब्योरा है, मनुओं के जन्मों का उल्लेख है। इनसे इतिहास का क्या सम्बन्ध है? वंश भले ही इतिहास का विषय हो सकते हैं पर पुराणों की वंशावलियाँ पहेलियाँ है जिनको बूझना मुश्किल है। पारजीटर सरीखे विद्वानों को इसमें ज्यादा सफलता नही हुई। पुराणों के बहुत बाद कश्मीर के कल्हण और श्रीवर ने राजतरंगिणी लिखी। इसमें समकालीन घटनाओं को छोड़कर बहुत-कुछ मनगढ़ंत किस्से हैं। संस्कृत में तो इतिहास का अभाव-सा ही है। पर मुसलमानों ने अरबी-फ़ारसी में इतिहास की दाग़बेल डाली। इतिहास घटनाओं की माला है जो काल के सूत्र में पिरोई हुई है। काल से अलग इतिहास की कोई हस्ती नहीं। काल की भित्ति पर इतिहास की सारी इमारत खड़ी है। अरबों ने इस सिद्धान्त का अनुभव किया और घटनाओं के काल के निश्चय पर ज़ोर दिया। उन्होंने घटनाओं के साल, महीने और दिन की जाँच की। हज़रत मुहम्मद की जीवनी और उनकी कृतियों और शिक्षाओं का समय नियत करने की कोशिश की। मुहम्मद साहब की किंवदन्तियों के बारे में पूरी खोज की। कब, किस मौके पर, किसके सामने बात हुई, किसने पहले सुनी, उससे किन पुरुषों के ज़रिये बाद के लोगों तक पहुँची, यह बयान करने वाले कहाँ तक भरोसे के आदमी थे, कहाँ तक इन कथनों को सच्चा माना जाए, किंवदन्तियों के दुहराने वालों पर कितना विश्वास किया जाए। काल का निर्णय और साक्षियों की साख की जाए—यह दोनों ही इतिहास के लिये अनिवार्य हैं। और इन दोनों पर अरबों ने भरपूर ध्यान दिया।

यही कारण है कि जब मुसलमात विद्वान् हिन्दुस्तान में पहुँचे तो उन्होंने इतिहास लिखने की तरफ़ तवज्जोह की। सबसे पहले मुहम्मद बिन कासिम ने पश्चिमी ओर से सिन्ध पर हमला किया। उसका हाल 'चचनामे' में लिखा गया, फिर महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण हुए। उनका वर्णन कई इतिहासों में मिलता

है। जिनमें उत्बी की तारीखे-यमीनी, बीरुनी की तारीखुल-हिन्द और तारीखे-बैहक़ी मशहूर हैं।

इसके पीछे जिन-जिन वंशों ने अपना राज्य जमाया सभी का इतिहास लिखा गया। इनमें तबकाते-नासिरी जिसका लेखक मिनहाजुस सिराज था, अलाउद्दीन जुवैनी की तारीखे-जहांकुशा, मुस्तौफ़ी की तारीखे-गज़ीदा, मीर ख्वंद की रौज़तुस्सफ़ा, ज़ियाउद्दीन बरनी की तारीखें-फ़ीरोज़शाही, अहमद यादगार की तारीखें-सलातीने अफ़ाग़ना इत्यादि विख्यात हैं।

मुग़ल बादशाहों के कारनामों का वृत्तान्त बाबर की तुजुक, ख्वंदमीर के हुमायूंनामे, अबुलफ़ज़्ल के अकबरनामे, तुजुकेजहांगीरी, अब्दुल हमीद के बादशाह-नामे मुहम्मद काज़िम के आलमगीरनामे, ख़फ़ीखां की मुन्तखबुललुबाब, शाहनवाज़ खाँ की मग्रासिरुल उमरा, गुलाह् हुसैन खां की सिग्ररुल मुताख्खिरीन जैसी अनेक पुस्तकों में मिलता है।

इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ मिलते हैं। पर सच पूछिये तो इनमें इतिहास का शुद्ध और पूर्ण रूप नहीं पाया जाता। कारण यह है कि इन किताबों के लिखने वाले मौलवी लोग थे। यह धर्म के पण्डित थे, बादशाहों के आश्रित थे। धर्म के पालक-पोषक थे। अपने आश्रयदाताओं के गुण गाने वाले, इस्लाम का झंडा ऊँचा करने वाले थे। मुसलमान बादशाहों को सराहना, उनके पराक्रमों को बढ़ाकर दिखाना और अवगुणों पर परदा डालना, अपने धर्म को सबसे श्रेष्ठ पद देना और इसके अनुयायियों को ऊँचा दिखाना स्वाभाविक ही था।पर इतिहास और है और प्रशस्ति-रचना और। इन इतिहास लिखने वाले मौलवियों के यहाँ विचित्र बातें मिलती हैं। हिन्दू मुसलमानों की लड़ाइयों का ज़िक्र करते हैं तो लिखते हैं एक लाख हिन्दुओं के मुकाबिले में दस हज़ार मुसलमान थे पर जीत मुसलमानों की हुई। हज़ारों काफ़िर मारे गए और हज़ारों ने दीने-इस्लाम में पनाह ली। ऐसा लगने लगता है हिन्दुस्तान हिन्दुओं से खाली हो गया होगा। पर सच इसके बिलकुल विरुद्ध है। दिल्ली को लीजिए। ग्यारहवीं सदी से मुसलमान बादशाहों की राजधानी रही। सात सौ बरस यहाँ इस्लाम का झंडा फहराता रहा। पर इस लम्बे समय में कभी ऐसा नहीं हुआ कि हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से कम रही हो। आगरा मुसलमानों का दूसरा महत्त्वशाली केन्द्र था पर आगरा और सारे व्रजमण्डल में सदा हिन्दू जनता की तूती बोलती रही। पंजाब से बंगाल तक का भूमि-भाग मध्य देश कहलाता था। हिन्दू सभ्यता का गहवारा था। फिर कई-सौ बरस मुसलमान राज्यों का हृदय-प्रदेश बना रहा। यहाँ आज पचासी फ़ी-सदी से ज़्यादा हिन्दू बसते हैं। कौन मौलवियों के लिखे इतिहासों को

पढ़ कर यह आशा कर सकता है कि यह सच है। फ़ारसी तारीख़ों को बड़ी सावधानी से पढ़ने की ज़रूरत है। इनके बे-सोचे अध्ययन से बेहद हानि हुई है और आगे होने की सम्भावना है।

इतिहास काल पर निर्धारित है। काल नाम है परिवर्तन का। परिवर्तन की गति देश और समय से सम्बन्ध रखती है। कभी परिवर्तन की चाल बड़ी मन्द होती है, कभी बड़ी तेज़। एक देश में एक ज़माना गुज़र जाता है। और ऐसा जान पड़ता है मानो किसी तरह की तब्दीली हुई ही नहीं। फिर समय पलटता है और समाज बिजली की तरह पलटा खाता है। हिन्दुस्तान में हज़ारों बरस बीत गए, समाज में आर्थिक अवस्था, गाँव की प्रथा, जात-पाँत के संगठन में किसी प्रकार का विप्लवी विकार नहीं प्रतीत हुआ। यूरोप में पाँचवीं सदी से पन्द्रहवीं सदी तक समाज एक ढंग से चलता रहा। फिर पहला इन्कलाब पन्द्रहवीं सदी में और उससे घोरतर अठारहवीं सदी में हुआ। अठारहवीं सदी के विप्लव ने यूरोप की काया पलट दी। इसे उद्योग-क्रान्ति अर्थात् इन्डस्ट्रीयल रेवोलूशन के नाम से पुकारते हैं। इसके दबाव से यूरोप दिनोंदिन तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहा है। पन्द्रहवीं सदी की क्रान्ति का असर धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला और बुद्धि पर पड़ा। अठारहवीं सदी की क्रान्ति ने समाज को नीचे से ऊपर तक बदल दिया। सामंती संगठन को तहस-नहस कर डाला, ऊँचे-नीचे, धनी-निर्धन के फर्कों को बहुत दूर तक मिटा दिया। प्रजातन्त्र का नक़्शा तैयार किया। प्रतिनिधि राज की नींव डाली। उस पुराने समाज की बुनियाद जिस आर्थिक क्रम पर थी उसी को जड़ से उखाड़ फेंका।

इसके विरुद्ध हिन्दुस्तान में कम से कम बारहवीं सदी से उन्नीसवीं के आरम्भ तक किसी तरह की क्रान्ति नहीं हुई। नतीजा यह हुआ कि समाज में और राजकाज के ढंग में तब्दीली नहीं हुई। इस निश्चल समाज का इतिवृत्त भी स्वभाव से एक से सिद्धान्तों पर लिखा जाना चाहिए। शिक्षित दल की विचारधारा में जब परिवर्तन नहीं हुआ तो उनके उद्‌गारों में कैसे तब्दीली हो सकती थी।

जब उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने अधिकार जमाया तो इनके पंडितों ने हिन्दुस्तान की सभ्यता-संस्कृति के समझने का प्रयत्न किया। विलियम जोन्स ने संस्कृत सीखी, कालिदास की शुकन्तला का अंग्रेज़ी में तर्जुमा किया। वारेन हेस्टिंग्ज़ फ़ारसी जानता था। अन्य अंग्रेज़ों ने इतिहास की तरफ़ ध्यान दिया। पर अंग्रेज़ी बुद्धि की पृष्ठभूमि थी पाश्चात्य संस्कृति, विजयी जाति का अभिमान। उन्होंने फ़ारसी की तारीख़ों से अपने मतलब के निष्कर्ष जमा कर लिए। हिन्दुओं

और मुसलमानों के भेदों को हिमालय से ऊँचा कर दिखाया। द्वेष की अग्नि को खूब हवा दी। राजनीति का तकाज़ा था। साम्राज्य का महल धर्मों के पारस्परिक कलह की नींव पर ही तो खड़ा हो सकता था।

अंग्रेज़ों ने जो ऐतिहासिक वातावरण पैदा किया उसमें हिदुस्तानी लेखकों ने साँस ली। हमारे दिलों में वही अंग्रेज़ी पक्षपात बस गए। उन्हीं से बाधित होकर हमने इतिहास रचे। इनके पढ़ने से मालूम होता है कि हमारे दिमाग़ों पर ग़ैरों का सिक्का जमा है। मानसिक गुलामी की जंजीरें अभी टूटी नहीं।

इन बन्धनों से छुटकारा पाने, अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि इतिहास की असलियत को समझें। आइये, यूरोप और इसके इतिहास पर निगाह डालें। सबसे पहले यूनान में इतिहास के लिखने की परिपाटी चली। ऐसा क्यों हुआ इसकी बड़ी रोचक कहानी है पर यह समय इसके वर्णन का नहीं है। यूनान में दो बड़े इतिहास-लेखक हुए। एक का नाम हेरोदोतुस है जिसे इतिहास का जनक कहते हैं। दूसरे का नाम थूकीडाई-डीज़ है। हेरोदोतुस ने यूनान और ईरान के युद्ध का इतिहास लिखा। इस युद्ध में हिन्दुस्तान के सिपाही रुई के बने सफेद कपड़े पहने शामिल थे। थूकीडाई-डीज़ ने एक दूसरे युद्ध का हाल लिखा जो एथेंज और स्पार्टा के बीच में हुआ। हेरोदोतुस का वर्णन सीधा-सादा घटनाओं का ब्यौरा है। यूनान, ईरान, मिस्र के लोगों की वेश-भूषा, आचार-व्यवहार का हाल है। कुछ प्राचीन काल की बातें हैं पर असल इतिहास का विषय युद्ध है। थूकीडाईडीज़ का इतिहास घटनाओं तक सीमित नहीं है। उसने कार्य-कारण के सम्बन्धों पर विचार किया है। सेनापतियों की युद्ध-प्रणाली और व्यूह-रचना पर विचार किया है। राज-नीतिज्ञों की नीति को उन्हीं के शब्दों में बयान किया है। नेताओं के विचारों और कामों की परीक्षा की है।

पर सच पूछिए तो पूरे अर्थ में यह कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इन दोनों की तारीख़ की सामग्री साठ-सत्तर बरस से अधिक नहीं। ऐसी कथा-वार्ता को इतिहास का नाम का देना खटकता है। इन्हें इतिहास का पहला क़दम भले ही कह सकते हैं।

यूनानियों के बाद रूमियों का नम्बर आता है। सभी जानते हैं रूम साम्राज्य विशाल था। इंगलिस्तान से लेकर ईरान की सीमा तक फैला हुआ था। साम्राज्य के फैलाव पर रूमियों को उचित गर्व था। विद्वानों की स्वाभा-विक रुचि इतिहास लिखने की ओर गई। बहुत लेखकों ने तारीखें लिखीं। इनमें तीन का नाम सबसे ऊँचा है अर्थात् सैलुस्ट, लिवी और टैसीटुस। सैलुस्ट

ने दो किताबें लिखीं जिनमें रूम और उत्तरी अफ्रीका के लड़ाकू नेता जुगर्था की जंग का वर्णन है। लिवी की पुस्तक का बड़ा विस्तार था। इसमें १५० पोथियों थीं। दस-दस पोथियों के पन्द्रह ग्रन्थ थे। आज इनमें से बहुत थोड़े प्राप्य हैं बाक़ी नष्ट हो गए। लिवी ने इस किताब में रूम का आदि से अन्त तक का इतिहास देने का यत्न किया था। टैसीटुस का विषय था रूम और जर्मनी के युद्धों का इतिहास। उसने युद्ध के पराक्रमी नेताओं के जीवन पर और जर्मनों के रहन-सहन पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पाँचवीं सदी में जर्मन जातियों ने रूम साम्राज्य को नष्ट कर दिया। और यहाँ से यूरोप का मध्यकालीन इतिहास शुरू होता है। यह बड़ा विचित्र काल था। इस काल में धर्म का महत्त्व अधिक था। ईसाई सम्प्रदाय के प्रमुख पोप का डंका बजता था। रूमी चर्च का सर्वव्यापी राज्य था। यह अधिकार एक हज़ार वर्ष बना रहा। पोपों के प्रभुत्व के समय में, इन हज़ार वर्षों में, जो साहित्य तैयार हुआ उसकी कुछ-कुछ तुलना हिन्दुस्तान के मध्यकालीन साहित्य से कर सकते हैं। साधु-सन्तों, सूफ़ी-दर्वेशों की जीवनी, उनकी वाणी, उनकी करामातें, चमत्कार यही साहित्य का सर्वस्व हैं। इतिहास तो नहीं समाचार-ग्रन्थ (क्रानीकल) लिखे गए। यह अलौकिक घटनाओं, अनहोनी कृतियों के वर्णन से भरी पड़ी हैं। इनमें तथ्य की मात्रा कम ही है।

सोलहवीं सदी में ज़माना पलटता है। यूरोप का पुनर्जीवन होता है। ज्ञान की रोशनी फैलने लगती है। अंधविश्वास के बादल छटने लगते हैं। नरक के भय और स्वर्ग के लालच से मन हटने लगता है। मरने के बाद हमारी क्या गति होगी—यह विचार कमज़ोर पड़ जाता है। जीवन में इस पाँच भूत के जगत में क्योंकर रहें, सुख प्राप्त करें, उन्नति के पद पर आगे बढ़ें, व्यक्ति और समाज को किस रास्ते पर लाएँ कि दोनों की भलाई हो। जब परलोक की चिन्ता की जगह इहलोक-सेवा के विचार ने ली तो बुद्धि में भी तबदीली हुई। बुद्धि की उत्पत्ति में फलों और फूलों ने नया रूप दिखाया। इतिहास ने भी रंग पलटा।

नए इतिहास का मार्गदर्शक था माकियावेली और उसका समकालीन जुई-चियार्डिनी। माकियावली की विशेषता यह थी कि उसने राजनीति और इतिहास को धर्म की अधीनता से मुक्त किया। संसार को मानुषी क्रियाओं का क्षेत्र समझा, अमानुषिक शक्तियों की अवहेलना की।

अब निगाह बदली। यूरोप के दूसरे देशों के इतिहासकारों ने तथ्य की खोज को अपना ध्येय बनाया। तथ्य जानने के लिए पुराने लेख-पत्र

जमा किए। यूरोप के पुस्तकालय खंगाले, इटली, फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैंड जहां भी लेख मिले उन्हें इकट्ठा किया। परन्तु सामग्री की खोज ने इतिहास-निर्माण का अवकाश नहीं दिया।

अठारहवीं सदी में खोज के आधार पर ग्रन्थ रचना शुरू हुई। गिबन पहला बड़ा इतिहासकार हुआ जिसने रूम साम्राज्य का बृहत् इतिहास लिखा। इस इतिहास में घटनाओं पर ध्यान दिया गया। घटनाओं के स्रोतों की छान-बीन की गई। समालोचना और विवेक से काम लिया गया। परम्परा पर अंध-विश्वास छोड़ दिया गया। सही अर्थों में इतिहास जानने की कोशिश हुई। मन-बहलाव से परे रहकर, इच्छा और भावना की प्रेरणा को रोककर, यथासंभव तथ्य को आदर्श मानकर इतिहासकारों ने लिखना आरम्भ किया। कारण यह था कि साइन्स के युग का श्रीगणेश हो गया था। साइन्स का भाव संदेह है जो ज्ञान के उदय से ही शान्त हो सकता है। मन का संतोष न तो देवोक्ति से हो सकता है न ब्रह्म-वाक्यों से, न ऋषियों-मुनियों, रसूल-पैगम्बरों के उपदेशों से। उद्धरेदात्मनात्मानम्। आदमी के लिए सिवाय अपनी बुद्धि-निष्ठा के और कोई चारा नहीं। बुद्धि ही एकमात्र साधन है जिससे प्रकृति और मनुष्य का ज्ञान हासिल हो सकता है। संदेह का संकट दूर हो सकता है। ज्ञान और तथ्य एक दूसरे पर निर्भर हैं। इतिहास की जानकारी तथ्य का ज्ञान ही है।

इस ऐतिहासिक ज्ञान का मर्म समझाने में डार्विन के विकासवाद ने सहायता की। विकास का आधार काल पर है। डार्विन ने सिद्ध किया कि काल-क्रम के साथ जन्तुओं का परिवर्तन हुआ है। सरल निरवयव जन्तु सुसंगठित सावयवों में बदले हैं। समाज-विज्ञान ने सिखाया ऐसी ही तबदीली मानव-समाज में भी हुई है। आदिवासी धीरे-धीरे सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ते हैं और उन्नति करते हैं।

उन्नीसवीं सदी के इतिहासकारों पर इन विचारों का प्रभाव पड़ा। इतिहास-विकास दर्शन का एक अंग हो गया। इतिहास का लक्ष्य यह हुआ कि परिवर्तन की कड़ियों को जोड़कर एक जंजीर बनाई जाये। चूँकि परिवर्तन आदमी और समाज दोनों में ही होता है इसलिए इतिहास को समाज के सभी अंगों के विकास पर ध्यान देना चाहिये। इतिहास को केवल राजाओं, सामन्तों और मन्त्रियों आदि की कृतियों तक सीमित नहीं समझना चाहिये। आर्थिक संगठन जातियों और पंक्तियों का संगठन, धार्मिक विचार, संस्कृति सभी बदलते हैं। एक दूसरे पर असर डालते हैं। इतिहास की निगाह सब पर होनी चाहिए। इस सबका परिणाम यह निकला कि उन्नीसवीं सदी में दो बातों पर अधिक

ज़ोर दिया गया, घटनाओं का यथावत् वर्णन और घटनाओं को विकास के सूत्र में बाँधना।

बीसवीं सदी के आदि में ऐसा भासने लगा कि तथ्य का ज्ञान प्राप्त करना एक आदमी, एक विशेषज्ञ के बूते से बाहर है। इतिहास का फैलाव बहुत है और एक विद्वान की पहुँच से बाहर है। इतिहास की सामग्री इतनी बढ़ गई है और इतिहास के इतने मुख हैं कि बिना कितने ही विद्वानों के योग के निर्वाह असम्भव-सा था। मिसाल के लिए पहले विश्व-युद्ध को लीजिए। इसके कारणों में राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, सैनिक सभी प्रकार की प्रेरणायें हैं। एक आदमी कैसे सबको जान सकता है? फिर युद्ध का क्षेत्र पृथिवी के जल-थल का विस्तृत भाग था। हरेक भाग में क्या हुआ—उस सबकी छानबीन एक व्यक्ति नहीं कर सकता। युद्ध के अन्त और सन्धि के बनाने में महीनों लगे, बड़े-बड़े नेताओं के अलावा सैकड़ों, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, शासन, समर-शास्त्र, भाषा-विज्ञानियों आदि ने मिलकर नई दुनिया का नक़्शा तैयार किया। इसको समझना एक लेखक के सँभाले नहीं सँभल सकता है। कुदरती तौर पर लेखकों ने सोचा कि इतिहास सहकार चाहता है। तब ऐतिहासिकों के गुट बने और उन्होंने मिलकर बड़े विस्तारपूर्वक इतिहास लिखने की चेष्टा की। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी की अध्यक्षता में यूरोप का प्राचीन इतिहास आठ ग्रन्थों में, मध्य-काल का इतिहास आठ ग्रन्थों में, अर्वाचीन बारह ग्रन्थों में, हिन्दुस्तान का इतिहास छह ग्रन्थों में, अँग्रेज़ी साहित्य का बारह ग्रन्थों में निकले। इन पुस्तक-मालाओं को छपे बहुत समय नहीं बीता था कि एक नई समस्या सामने आई। एक-एक ग्रन्थ में बहुत से अध्याय और परिच्छेद थे और प्रत्येक का लेखक विशेषज्ञ था। उनकी विचारधाराओं में विविधता होना स्वाभाविक था। नतीजा यह हुआ कि ग्रन्थ बँधा तो एक जिल्द में था पर उसमें चिन्तन का सामंजस्य, विचार की एकता नहीं थी।

फ़िक्र हुई कि यह कैसे पैदा की जाये। इसका तरीक़ा यह था कि इतिहास क्या है इस पर सोच-विचार किया जाये। यह नयी बात नहीं थी। अठारहवीं सदी में इटली के एक विद्वान वीको ने इस पर ग़ौर किया था। उसने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था नई साइन्स (सीयंज़ा नूओवा)। इसमें बतलाया है कि सभ्यता के तीन युग होते हैं। हर युग में सभ्यता कुछ गुण दर्शाती है जो दूसरे और तीसरे में बदलते हैं। फिर सभ्यता का अवसान होता है। उसके बाद दूसरी सृष्टि बनती है। यह भी तीन युगों के बीतने पर लोप हो जाती है। यही सिलसिला आदि से चला आ रहा है और भविष्य में जारी रहेगा।

इतिहास इस चक्र का ब्योरा है।

वीको के बाद कई और कल्पनाएँ निकलीं। उन्नीसवीं सदी में विख्यात विद्वान मार्क्स ने अपनी थियोरी पेश की। उसका सिद्धान्त यह था कि समाज और राज की सभी तबदीलियाँ आर्थिक परिवर्तन पर निर्भर हैं। सम्पत्ति के उत्पादन के ढंग पर समाज और राज का संगठन होता है, जितने सामाजिक व्यापार (फ़िनोमिना) हैं सब आर्थिक क़ानूनों से जकड़े हुये हैं। हमारे औज़ारों पर हमारी तकनीक का आसरा है। तकनीक पर उत्पादन का और उत्पादन पर मनुष्यों के सम्बन्धों का दारोमदार है। इन सम्बन्धों से समाज का रूप निश्चय होता है। इस रूप के अनुकूल धर्म, नीति, साहित्य, कला का निर्माण होता है। जैसे उत्पादन की प्रणाली बदलती है समाज की प्रकृति में हेरफेर होता है। आरम्भ में असभ्य जातियों में एक सामान्य समता थी। उसके बाद सामन्ती युग का उद्‌घाटन हुआ। उसके अन्त पर पूंजीपतियों का आधिपत्य क़ायम हुआ। इसका बदलना आवश्यकीय है और इसके पलटने पर मज़दूरों और कमेरों के राज का आना अनिवार्य है।

मार्क्स के सिद्धान्तों का जो दुनिया की मानसिक और व्यावहारिक हालत पर असर पड़ा है उसे सभी जानते हैं। वह बयान का मोहताज नहीं। अब कोई इतिहास नहीं लिखा जा सकता जिसमें आर्थिक कारणों का उल्लेख न हो।

मार्क्स के बाद बीसवीं सदी में दो महत्त्वशाली चिन्तक हुये जिन्होंने इतिहास लिखने वालों पर बड़ा प्रभाव डाला। एक तो जर्मन श्पेंग्लर और दूसरे अंग्रेज़ टॉयनबी। श्पेंग्लर की पुस्तक का नाम है 'पश्चिमी देशों की अधोगति' (डेर उराटर गाँग डेज़ आबेंडलांडेज़)। टॉयनबी की पुस्तक दस जिल्दों में है। उसने इसका नाम रखा है 'इतिहास का अध्ययन' (ए स्टडी आफ हिस्ट्री)।

श्पेंग्लर की कल्पना है कि सभ्यताओं की अवस्थाएँ होती हैं। सब सभ्यताएँ चाहे किसी काल की हों इन अवस्थाओं को पार करती हैं। इन अवस्थाओं को श्पेंग्लर जाड़े, गर्मी और पतझड़ कहता है। सभ्यता का बचपन का ज़माना होता है, फिर जवानी आती है और इसके बाद बुढ़ापा। आख़िर में उसकी मौत हो जाती है। श्पेंग्लर के अनुसार ग्रीस, रूम आदि यूरोप की सभ्यताएँ इन पड़ावों से गुजरी हैं। ग्रीस और रूम की सभ्यताओं का तो अन्त हो चुका, यूरोप की सभ्यता पतन के ढाल पर नीचे की ओर खिसक रही है।

टॉयनबी ने अपनी किताब में दुनिया की सभी सभ्यताओं की जाँच की है, पुरानी और नई, बर्बर और सभ्य। वह इस नतीजे पर पहुँचा है कि मानव-

जगत् में दो कृतियां काम करती हैं : वाद-प्रतिवाद, उद्रेक-परिणाम, कारण-कार्य। सभ्यता इन्हीं दो की लीला से बनती, फलती-फूलती है। मिस्र के इतिहास में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। एक ज़माना था जब इतिहास का सूत्रपात नहीं हुआ था। नील नदी की घाटी में आदिम जातियां बसती थीं। प्रकृति के उद्रेकों का इन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। हज़ारों बरस बीत गए यह बर्बरता के अंधेरे में डोलती रहीं। इनके पीछे और जातियां आईं। उन्होंने नील नदी के उतार-चढ़ाव को देखा। मनों में स्फूर्ति आई। बुद्धि को धक्का लगा, वह जागी। अनुभव किया कि नील नदी हर साल अपनी बाढ़ के साथ उपजाऊ मिट्टी लाती है और उसे घाटी के मैदानों में फैला देती है। उसका यह चमत्कार हर साल ठीक समय पर होता है। बस यह जानना था कि इससे फ़ायदा उठाने की धुन लगी। खेती होने लगी, नहरें बनने का प्रबन्ध हुआ, पानी के बांट की योजनाएं बनीं। समाज और राज की रचना हुई। उर्वरा भूमि के धन से देश मालामाल होने लगा। एक के बाद दूसरे खानदान का राज्य हुआ। सभ्यता उन्नति के सोपान पर चढ़ने लगी।

इसी विश्वव्यापी प्रश्न-उत्तर में सभी सभ्यताओं का रहस्य है। आरम्भ में बहुत सभ्यताएँ थीं। उनमें से बाईस ने अपना अलग सांचा बनाया। धीरे-धीरे इनमें से बहुत-सी मिट गईं। आज चार सभ्यताएँ जीवित हैं अर्थात् पश्चिमी ईसाई, इसलामी, भारतीय हिन्दू और चीनी। पर टॉयनबी का विचार है कि चारों एक-दूसरे के निकट आ रही हैं। पश्चिमी अपनी वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति के बल पर तीनों को अपने प्रभाव में ला रही है और इस क्रम से अन्त में केवल एक विश्व सभ्यता बाकी रहने वाली है।

यह सब कल्पनाएँ केवल एक अभिप्राय रखती हैं : ऐतिहासिक घटनाओं की बहुतायत को एकता के सूत्र में पिरो देना। परन्तु विज्ञान का भी तो यही अभिप्राय है अर्थात् प्रकृति के बहुत्व को एकता प्रदान करना। तो फिर क्या इतिहास और विज्ञान में कोई फ़र्क नहीं ? इस सवाल पर दर्शनविदों ने विचार किया पर इनके मतों में भेद है। कुछ की धारणा है इतिहास और विज्ञान में अन्तर नहीं। ऐसा मत मार्क्सवादियों का है। पर बहुत ऐसे भी हैं जो इससे सहमत नहीं हैं। इन लोगों का तर्क गम्भीर और रोचक है।

इस मत के अनुसार विज्ञान और इतिहास के बीच ऐसी चौड़ी खाई है कि उसे पाट सकना असम्भव है। विज्ञान का व्यापार द्रव्य से, पंचभूत कायामय वस्तु से, प्रकृति की शक्ति से है। यह परिवर्तनशील जगत देश-काल के बन्धनों से बँधा है। भूतों के अणु एक दूसरे से मिलते हैं, अलग होते हैं, सदैव गति आन्दोलन

में रहते हैं। जड़ पदार्थों से सूरज, चाँद, सितारे पैदा होते हैं, पृथ्वी तैयार होती है। पृथ्वी पर जीव, वनस्पति, जन्तु, मनुष्य प्रगट होते हैं। यह सारा जगत द्रव्य और शक्ति का खेल है। विज्ञान इसकी देखरेख से अपना कलेवर तैयार करता है। पर विज्ञान से पूछिये यह सब क्यों होता है। इस संसार के तमाशे का क्या अभिप्राय है तो उसके पास जवाब नहीं। यह कब हुआ, कैसे हुआ, इसके हेतु क्या हैं, यह तो साइन्स बताती है। 'क्यों' के सामने इसे चुप ही रहना पड़ता है।

विज्ञान के विरुद्ध इतिहास की घटनाओं के कालक्रम निश्चित कर देने पर सन्तोष नहीं होता। अकबर कब पैदा हुआ, उसने कौन-कौन प्रदेश जीते, कैसे जमीनों का प्रबन्ध किया, उसकी धार्मिक नीति क्या थी, उसने कब देह-त्याग किया। इन सबकी जानकारी इतिहास की सामग्री उपस्थित करती है, इतिहास नहीं। पर हमें जानना है कि अकबर के दीने इलाही के संचालक कौन विचार और वृत्तियाँ थीं, अकबर के सामने क्या उद्देश्य था, उसके क्या राजकीय आदर्श थे। इस प्रकार का ज्ञान हमें इतिहास के मूल तत्व की तरफ़ ले जाता है। यह ज्ञान केवल बाहरी जगत से सम्बन्ध नहीं रखता। इसका नाता हमारी आत्मा से है, उस मूल तत्व से जिसके इशारे से मन और बुद्धि काम करते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियों का विषय मात्र नहीं यह उस कर्त्ता का आशय है जिसकी प्रेरणा से इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। यह कर्त्ता देश और काल से अतीत है, कारण और कार्य के सम्बन्ध से परे है, मानवी उद्देश्यों, आदर्शों का निवासस्थान है, वस्तुओं और कृतियों में मूल्य आरोपण करने वाला है।

इतिहास इस कर्ता के उद्गारों का देश-काल के क्षेत्र में आविष्कार है। हमारे उद्देश्य, आदर्श, मूल्य और परमार्थ इतिहास में प्रकट होते हैं। व्यक्ति और समाज के जीवन में, हमारी इच्छाओं और आकांक्षाओं में, हमारी चेष्टाओं में, संघर्षों में, हार-जीत में, उन्नति-पतन में इनका प्रादुर्भाव होता है। इतिहास का ज्ञान इन आध्यात्मिक प्रेरकों का ज्ञान है। इतिहास को जानना अपने को जानना है और इस जानने से बढ़कर किसी ज्ञान का मूल्य नहीं। इतिहास की खोज आत्मा की जिज्ञासा है।

अगर यह भावना ठीक है तो इतिहास का विकास न केवल राज है, न केवल समाज, न केवल आर्थिक संगठन। व्यवसाय और वाणिज्य यह सब हैं और इनसे आगे हैं नीति और धर्म। इतिहास का काम है आदमी के पूरे अनुभव और उनकी सभी उद्भावनाओं की जाँच। कला, साहित्य, विज्ञान, राजकाज, समाज सभी इस अनुभव से ओतप्रोत हैं। इतिहास इस अनुभव का निरीक्षण है। इससे इतिहास की सीमाएँ दिनोंदिन फैलती जाती हैं। आज इतिहास की

दृष्टि विश्वव्यापी है। विज्ञान इसका सहायक है अधिपति नहीं। यह विज्ञान के समान स्थितियों, संस्थाओं, प्रगतियों, आन्दोलनों का विश्लेषण करता है, पर कला के समान सांगोपांग वर्णन का सृजन करता है। तीनों भाव इसके अन्तर्गत हैं—सत्, चित् और आनन्द।

यहाँ तक तो मेरा प्रयत्न यह था कि आपके सामने इतिहास, इसके अर्थ और इसकी विशेषताओं के बारे में अपना वक्तव्य उपस्थित करूँ। अब कुछ इस नाते से कि आप लोग हिन्दी के साहित्य पर विचार करने के लिए इकट्ठे हुए हैं इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध की चर्चा उचित है।

साहित्य के लिए कहा जाता है यह समाज का प्रतिबिम्ब है (मिरर आफ़ सोसाइटी)। समाज क्या है ? भूत, भविष्यत् और वर्तमान का सम्मेलन। हमारा भूत अर्थात् हमारे पूर्वज हमारे हाड़-मांस और मन की वृत्तियों में विद्यमान हैं। समाज का भूत उसकी परम्परा है, रस्म, रिवाज, धर्म, भाषा आदि हैं। यह सब समाज के जीवन के अंग हैं। भविष्य समाज के आदर्श हैं, भविष्य बीज-रूप वर्तमान में छिपा है पर समय के साथ अंकुर लेता है। वर्तमान में भूत और भविष्य के डांडे मिल जाते हैं। साहित्य इन तीनों कालों का दिग्दर्शन कराता है। इतिहास अतीत के रूप में झलकता है और इस नाते से साहित्य का अंग है। समाज एकता और अनेकता, व्यक्ति और समूह, समान और विविध का संगम है। पर यह सब काल के पहियों पर चढ़े हैं। इस पहिये के साथ चक्कर खाते बढ़ते हैं। चकराना बन्द हो जाये तो संसार थम जाए। इतिहास विलीन हो जाए। जब तक संसार में गति है तब तक इतिहास है।

साहित्य सृजन है। इन्द्रियगोचर तथ्यों के समुदाय का नाम जगत है। हमारी कल्पना इस जगत के आधार पर एक नये जगत का उत्पादन करती है। यह जगत कहीं ज्यादा रोचक है। इसका सौन्दर्य हृदय को विह्वल कर देता है। इसका उत्तेजन मन को ऊँचा करता है। इसको पकड़कर हम भावों के गहरे समुन्दर में गोता लगाते हैं। साहित्य संसार के विषयों से बँधा है पर इनसे मुक्त भी है। मुक्त होने के कारण मनुष्य की सर्जन-शक्ति का प्रदर्शक है।

विषय हमारे भावों को उकसाते हैं। पर इन भावों का जीवन साधारण रूप से अस्थायी है, क्षणभंगुर है और बहुत करके उथला है। साहित्य इन भावों में स्थिरता, दृढ़ता, गहराई उत्पन्न करता है। अस्थिरता और छिछलापन उन भावों के गुण हैं जो मनुष्य और पशु में समान हैं। इनके विरुद्ध

भावों में जितनी चपलता की मात्रा कम होती है उतने ही वह हमारी मानवता के अनुकूल होते हैं। इतिहास का काम परिवर्तनमय संसार को नित्य और अमर बना देना है।

साहित्य नाम है शब्द-व्यंजना का। पर शब्द केवल चिह्न मात्र हैं, भावों (फ़ीलिंग) और उपलब्धियों (परसेपशन) की निशानी। भाव और उपलब्धि में काल का परिमाण है। भाव और उपलब्धि कुछ समय तक स्थिर रहते हैं। उठते हैं, ठहरते हैं, और फिर लोप हो जाते हैं। डर का भाव मन में पैदा होने से निकल जाने तक कुछ समय लेता है। डर कई प्रकार का होता है। मंदा और तेज़, हल्का और भारी। लाल वस्तु को आँख देखती है, लाली कुछ देर तक बनी रहती है। लाल रंग अनेक छटाओं का होता है, हल्के गुलाबी से लेकर गहरे लहू जैसे तक। हमारे शब्द इन प्रतिरूपों को बताने के लिए पर्याप्त नहीं। यहीं साहित्यकार का कौशल अपना चमत्कार दिखाता है। ऐसे शब्दों को छाँटता है और उन्हें इस प्रकार एक दूसरे के साथ जोड़ता है कि उन्हें सुनकर हमारे हृदय में सोये हुए भावों का असली रूप जाग उठता है।

इतिहास इस विषय में साहित्य के समान है। विस्मृत घटनाओं को फिर से जीवित करना ही इतिहास का काम है। चेतना (माइण्ड) की अभिव्यक्ति के तीन ही रूप हैं। एक रूप वह है जिसमें बाहरी जगत् प्रधान है, चेतना तथ्य के अधीन प्रकट होती है। दूसरा रूप वह है जिसमें चेतना की कल्पना-शक्ति बाहरी जगत पर, तथ्य पर, अपना शासन जमाकर अपने को प्रगट करती है। तीसरे रूप में तथ्य और कल्पना का सामंजस्य होता है। वह एक-दूसरे के अधीन नहीं होते। पहला रूप विज्ञान (साइन्स), दूसरा साहित्य (लिट्रेचर) और तीसरा इतिहास (हिस्ट्री) है।

डॉ० राजबली पाण्डेय

# अनुसंधान की प्रक्रिया और प्रविधि

## १—प्रक्रिया और प्रविधि साधन मात्र

किसी भी मानव-प्रयास को जब सहज किन्तु अनिश्चित पगडंडियों से निकाल कर शास्त्र का रूप दिया जाता है, तब स्वाभाविक प्रश्न होता है कि उस प्रयास के साध्य और साधन क्या हैं। यह प्रायः सर्वमान्य हैं कि अनुसंधान का साध्य सत्य का अन्वेषण है। फिर इसके साधन क्या हैं ? इस विषय पर मतभेद हो सकता है। परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि साधन को उपादान और निमित्त दो प्रमुख विभागों में बाँटा जा सकता है। अनुसंधान के उपादान साधन तो तथ्य हैं, जिनके बिना अनुसंधान का कोई आकार-प्रकार नहीं खड़ा हो सकता। अनुसंधान के निमित्त साधनों में प्रक्रिया और प्रविधि का समावेश है। ये अनुसंधान को दिशा और प्रगति प्रदान करते हैं और उसको अनावश्यक प्रयास से बचाते हैं, परन्तु यह प्रारम्भ में ही समझ लेना चाहिये कि प्रक्रिया और प्रविधि अनुसंधान नहीं है, उसके साधन मात्र हैं। अतः अनुसंधान के अन्य आधारिक तत्त्वों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

## २—अन्वेषक और निर्देशक

अनुसंधान के दो अनिवार्य स्तम्भ हैं। उनमें से प्रथम अन्वेषक है। अन्वेषक वह व्यक्ति होता है जिसमें विचिकित्सा हो तथा सत्य के प्रति रुचि एवं जिज्ञासा। इन दो मूल प्रेरणाओं से रहित व्यक्ति को अनुसंधान में लगना या लगाना बड़ी भूल है। अन्वेषक या अनुसंधान करने वाले की पात्रता पर सर्वप्रथम विचार होना चाहिये। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अनुसंधान-पूर्व योग्यताओं में

विचिकित्सा और जिज्ञासा मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। अन्य योग्यताओं में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का ताथ्यिक परिचय भी अनिवार्य है। पुनः बौद्धिक परिपक्वता, अनुभव, सूझ, प्रतिभा आदि भी अनुसंधान के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। अन्वेषक में इन प्राथमिक योग्यताओं के बिना बहुत प्रयास करने पर भी अनुसंधेय विषय और योग्यतम प्रदर्शक दोनों ही व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अन्वेषक की योग्यता से प्रदर्शक का चुनाव कम महत्व का नहीं। यदि अन्वेषक की पात्रता विचारणीय और परीक्षा का विषय है तो प्रदर्शक की योग्यता उससे कम विचारणीय और परीक्ष्य नहीं। वास्तव में निर्देशक तो पहले से परीक्षित और प्रसिद्ध होना चाहिये : अनुसंधान के विषय तथा उससे सम्बद्ध विषयों में। यदि वह स्वयं प्रबुद्ध और प्रसिद्ध नहीं है तो अन्वेषक का पथप्रदर्शन वह कैसे कर सकता है ? जैसे कोई स्वयं मुक्त हुए बिना दूसरों को मुक्ति का मार्ग नहीं बता सकता वैसे ही कोई प्रबुद्ध हुये बिना दूसरों को प्रबुद्ध नहीं बना सकता। निर्देशक में अन्वेषक को पहचानने, उसको पूर्णतः ग्रहण करने और उसको निश्चित विषय में प्रवृत्त करने की क्षमता होनी चाहिये। यदि अन्वेषक में यह क्षमता और योग्यता नहीं हे तो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की ही उक्ति चरितार्थ होगी।

## ३—अनुसंधान का मूल लक्ष्य : सत्य का अन्वेषण

आज का युग यांत्रिक और प्राविधिक होने के कारण यह प्रायः देखने में आता है कि अनुसंधान और अनुशीलन में भी प्रविधि, प्रक्रिया और तथ्यों पर ही ज़ोर दिया जाता है। इसमें सत्य के अन्वेषण का महत्व कम हो जाता है और उसके बहिरंग परीक्षण और प्राविधिक उपकरणों का महत्व बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अनुसंधान का मूल लक्ष्य सत्य ही दृष्टि-पथ से ओझल हो जाता है और केवल प्रक्रिया और प्रविधि का श्रममात्र हाथ लगता है। अतः अनुसंधान प्रारम्भ करने के पूर्व ही समझ लेना चाहिये कि प्रक्रिया और प्रविधि का महत्व उसी सीमा तक है जहाँ तक ये सत्य की प्राप्ति में सफल साधन बन सकते हैं।

## ४—सत्य और तथ्य

अनुसंधान में सत्य का अन्वेषण मूल लक्ष्य है। सत्य तक पहुँचने के लिये तथ्यों का पता लगाना और उनका संग्रह करना पड़ता है। सत्य और तथ्य दोनों ही अनुसंधान में आवश्यक हैं परन्तु दोनों का सापेक्ष महत्व स्थिर कर लेना चाहिये। तथ्य अनन्त हैं। वे सम्बन्ध और सादृश्य पर अवलम्बित है। अतः सापेक्ष हैं। जब तक बहुसंख्यक तथ्यों का पारस्परिक सम्बन्ध न निश्चित किया

जाय, उनसे कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता है। तथ्य है ( अस्ति ) किन्तु उसकी वास्तविकता सत्य पर अवलम्बित है। इसके विपरीत सत्य तथ्य के सहारे जाना जाता है किन्तु उसका अस्तित्व ताथ्यिक साधनों से निरपेक्ष है। वह स्वतः वस्तु-सत्ता है। तथ्य उसके साधन मात्र हैं। तथ्य नहीं प्राप्त होने से सत्य का अभाव नहीं होता। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अथवा अनुभव से ताथ्यिक साधन के बिना भी सत्य की झाँकी मिल जाती है। तथ्य मार्ग है, सत्य गन्तव्य। परन्तु यह अनिवार्य नहीं कि एक-एक पग पैदल चलकर मार्ग तय किया जाय। तथ्य का अत्यन्त आग्रह कभी-कभी मार्ग का अवरोध करता है। जहाँ ताथ्यिक अन्तराल होता है, वहाँ सूझ और कल्पना की छलाँग से दो सुदूर तथ्यों को जोड़ कर सत्य तक पहुँचा जाता है। ऐसा नहीं कि किसी एक तथ्य के अभाव में सत्य के एक किनारे पर ही कोई बैठा रह जाय।

## ५—तथ्य अनन्त हैं

जैसा कि पहले कहा गया है तथ्य अनन्त हैं। केवल उनके संकलन मात्र से सत्य का अनुसंधान नहीं हो सकता। केवल तथ्य का संग्रह तो सूची अथवा वर्णनात्मक अनुक्रमणिका है। उसको अनुसंधान की संज्ञा देना उचित नहीं। उसकी उपयोगिता है, किन्तु उसकी गरिमा अनुसंधान के समकक्ष नहीं। इसीलिये अनुसंधान करने वाले को केवल ताथ्यिक, संग्रही एवं सूचीकार मात्र नहीं होना चाहिये। सत्य की निष्ठा द्वारा तथ्यों के बीच से अनुभवजन्य ज्ञान-शक्ति को जागृत करना सत्य के अनुसंधान के लिये आवश्यक है। तथ्यों का समुचित उपयोग भी इसके बिना नहीं हो सकता।

## ६—तथ्यवाद

अनुसंधान में तथ्य का अत्यधिक आग्रह तथ्यवाद है। तथ्यवादी की यह मान्यता है कि तथ्य के बिना अनुसंधान हो ही नहीं सकता और तथ्य से अतिरिक्त कोई सत्य नहीं। संभवतः इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे यह कहा जाय कि बिना शरीर के आत्मा हो ही नहीं सकता अथवा शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदार्थ है ही नहीं। यह वाद भौतिक विज्ञानवाद की प्रक्रिया से प्रारम्भ हुआ। आज भौतिक शास्त्रों में भी उच्चकोटि के चिन्तन से यह प्रक्रिया हिल चुकी है। चिन्तन-प्रधान शास्त्रों में तथ्यवाद वास्तव में जड़वाद है। तथ्यों का सपिण्डीकरण जब तक अनुभव और तज्जन्य सत्य से नहीं होता तब तक तथ्य जड़ हैं और उनका महत्त्व प्रासंगिक है।

## ७—महत्वपूर्ण तथ्य ही संग्राह्य

अनन्त तथ्यों में सभी महत्वपूर्ण और अनिवार्य नहीं। इसीलिए तथ्यों के संग्रह में चुनाव का प्रश्न महत्व रखता है। अनुसंधानकर्ता को यह जानना आवश्यक है, उसके अनुशीलन के लिये कौन तथ्य आवश्यक और कौन अनावश्यक हैं तथा कौन तथ्य अधिक महत्व का और कौन अपेक्षाकृत कम महत्व का है। इस परिस्थिति में सारगर्भित तथ्य ही एकत्रित किये जा सकते हैं। पुनरावृत्त तथ्यों का संग्रह केवल सूचनार्थ हो सकता है, उनसे किसी नवीन सत्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। सूचनार्थ भी उनकी संख्या सीमित होनी चाहिये। तथ्यों की वरीयता और चुनाव की समस्या अनुसंधान में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

## ८—विषय का निर्वाचन तथा निर्धारण

तथ्य की भाँति विषय अनन्त हैं और सभी समान महत्व के नहीं। किसी का महत्व मौलिक अथवा प्राथमिक, किसी का आनुषंगिक अथवा प्रासंगिक, किसी का पूरक अथवा समर्थक तथा किसी का पुनरावृत्तिमूलक अथवा अनावश्यक। अनुसंधानकर्ता के सामने समय, अवसर और सुविधायें सीमित हैं। अतः विषय के चुनाव के समय इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि वह जीवन अथवा ज्ञान के किसी महत्वपूर्ण अंग पर प्रकाश डालता है या नहीं। अनुसंधान संग्रहालय नहीं, शास्त्र है। अत. शास्त्र की मर्यादा, नियम और क्रम के अनुसार ही विषय का चुनाव होना चाहिये। शास्त्र की दृष्टि से विषय का महत्व होना आवश्यक है। विषय का चुनाव हो जाने के बाद उसके निर्धारण का प्रश्न आता है। विषय का क्षेत्र और सीमा निश्चित होनी चाहिये जिसके भीतर विषय में पूरे प्रवेश के साथ काम किया जा सके। निर्धारण न होने से विषय और तथ्य बाढ़ के पानी के समान यत्र-तत्र-सर्वत्र छा जाते हैं और विचार और चिन्तन की मूल धारा खो सी जाती है। इसमें शोधार्थी के समय और शक्ति का अनावश्यक क्षय होता है। वह धरातल पर फैलता जाता है, किन्तु उसकी गंभीरता जाती रहती है। उसका संग्रह-पक्ष बढ़ता जाता है, किन्तु सिद्धान्त-पक्ष दुर्बल और क्षीण हो जाता है। अतः अनुसंधान में निर्धारण भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना निर्वाचन।

## ९—प्रक्रिया का स्वरूप

प्रक्रिया का स्वरूप क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मुख्यतः उनके दो सम्प्रदाय हैं—(१) कलात्मक और (२) वैज्ञानिक। पहले

के अनुसार चित्र अथवा मूर्ति के समान संपूर्ण विषय का स्वरूपांकन पहले मानस में होता है और आगे चलकर उसका संयोजन कागज़ पर पीछे होता है। पहले जिज्ञासा और चिन्तन के द्वारा भावनायें और कल्पनायें मन में प्रायः निश्चित हो जाती हैं; संग्रह, संयोजन और ग्रथन क्रमशः पीछे होते हैं। इसके अनुसार सृष्टि पहले मानसी होती है और पुनः भौतिकी। निष्कर्ष और मूल्य भी प्रायः पहले ही मानसिक धरातल पर निश्चित हो जाते हैं; उनका निदर्शन, समर्थन और पुष्टीकरण पीछे होता है। दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार तथ्यों के संग्रह और संयोजन से ही क्रमशः रूप का सृजन होता है। अर्थात् रूप पूर्णतः ताथ्यिक और विकसन अथवा परिवर्तनशील है। निष्कर्ष और मूल्य भी इसी प्रक्रिया से निष्पन्न होते हैं। रूप, निष्कर्ष और मूल्य की कल्पना पहले से ही कर लेना एक प्रकार का पूर्वाग्रह है जो सत्य के अनुसंधान और प्राप्ति में बाधक है। ये दोनों ही एकान्तिक सम्प्रदाय हैं। वस्तुतः अनुसंधान में कला-पक्ष और विज्ञान-पक्ष दोनों को एक दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं किया जा सकता। प्राथमिक सूझ, अन्तर्प्रवेश और प्रतिभासिकता कला के कार्य हैं। इनके बिना अनुसंधान में रुचि और प्रवेश संभव नहीं। वैज्ञानिक पद्धति से संग्रह-संयोजन और निष्कर्ष पीछे आते हैं। पुनः वे एक दूसरे को प्रभावित करते जाते हैं। विशेषकर सामाजिक शास्त्रों के तथ्य और विषय मानवीय मनोविकारों से इतने प्रभावित होते हैं कि उनके सम्बन्ध और विकास की कोई निश्चित, सीधी तथा स्थिर रेखा नहीं खींची जा सकती। उनमें मनोवैज्ञानिक तत्व इतने अधिक सन्निहित हैं कि उनके अन्वेषण और संयोजन में कलात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है, यद्यपि बाह्य प्रक्रिया में वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता का परित्याग नहीं किया जा सकता।

## १०—प्रविधि के प्रारम्भिक चरण

(१) **विषय की रूप-रेखा**—संशोधन के प्रारम्भ में ही विषय की एक अस्थायी रूप-रेखा बना लेना आवश्यक है। इससे सामग्री-संकलन की सीमा निर्धारित हो जाती है और सामग्री-संकलन के समय ही सामग्री का विषयगत वर्गीकरण अपने आप ही होता जाता है। यह अनिवार्य नहीं कि मूल रूपरेखा अन्त तक बनी रहे। प्राप्त सामग्री और तथ्यों के प्रकाश में उसमें आवश्यकता-नुसार परिवर्तन हो सकता है। पहली सहायता जो निर्देशक अन्वेषक को दे सकता है वह है रूप-रेखा के निर्माण में। इस मूल रूप-रेखा के अभाव में अन्वे-षक को अनावश्यक रूप से भटकना पड़ता है। वह या तो अपने विषय के किनारे के कंकड़-पत्थर इकट्ठा करता रहता है या उसके भीतर फिसल कर गोते लगाने

लगता है और घबड़ा जाने के कारण उसके कुछ हाथ नहीं लगता। आवश्यक है कि वह किसी माप-दण्ड के सहारे सीमित क्षेत्र में आत्म-विश्वास के साथ अपने विषय का अवगाहन कर सके। इस स्थिति में जागरूकता और सावधानी के साथ अपने विषय से सम्बद्ध तथ्यों का संकलन हो सकता है। कुछ लोग प्रारम्भिक रूप-रेखा को इसलिये अनावश्यक समझते हैं कि इससे एक प्रकार का पूर्वाग्रह हो जाता है किन्तु यह आपत्ति तो किसी भी योजना-बद्ध कार्य के सम्बन्ध में की जा सकती है। वास्तव में यह रूप-रेखा प्राथमिक होती है, अंतिम नहीं। अतः पूर्वाग्रह का प्रश्न नहीं उठता।

(२) **योजना**—योजना का अर्थ है अनुसंधान-कार्य के विविध स्तरों और श्रेणियों का नियोजन। इसमें काल-विभाग और कार्य-विभाग दोनों का समावेश है। कार्य की प्रगति बृद्धिमती और नियंत्रित रखने के लिये यह आवश्यक है। अनुसंधान का कार्य प्रायः एक निश्चित विषय पर और निश्चित समय के भीतर करना होता है। अतः कार्य क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर आगे बढ़ना चाहिये। जो अन्वेषक योजना- बद्ध कार्य नहीं करते वे प्रायः समय के भीतर अपना कार्य समाप्त नहीं कर पाते और कभी-कभी तो कार्य समाप्त किये बिना भाग खड़े होते हैं।

(३) **स्रोत तथा संदर्भ-ग्रन्थसूची**—रूप-रेखा के साथ ग्रंथ-सूची भी तैयार होनी चाहिये। वास्तव में संशोधन-कार्य की दो आधार-शिलायें हैं: (अ) रूप-रेखा और (आ) ग्रंथ-सूची। किन स्रोतों और मौलिक ग्रन्थों से सामग्री संकलित करनी है यह अन्वेषक को कार्यारम्भ में ही ज्ञात होना चाहिये। रूप-रेखा की ही भाँति यह सूची भी प्राथमिक होती है, अंतिम नहीं। आवश्यकतानुसार इसमें भी परिवर्धन और संशोधन हो सकता है। इस सूची के सहारे सामग्री-संकलन का कार्य क्रमिक और विधिवत् होता है। यह सूची तिथि-क्रमिक, विषयगत और वर्गीकृत होनी चाहिये। यह कार्य भी निर्देशक के निर्देश और सहायता से होना चाहिये। इस सूची के अभाव में कार्य विशृंखलित तथा शक्ति एवं समय का क्षय होता है।

## ११—कार्यारम्भ

(१) **सामग्री-संकलन**—सामग्री अथवा तथ्य अनुसंधान के उपादान साधन हैं। बिना तथ्य के अनुशीलन हो नहीं सकता। अतः सामग्री-संकलन अनुसंधान का प्राथमिक आधार है। अनुसंधान के लिये निश्चित समय का एक ठोस भाग सामग्री-संकलन में व्यय होता है। सामग्री-संकलन का कार्य प्रायः समाप्त होने

पर ही संशोधन के अन्य अंगों का कार्य प्रारम्भ होता है। विषय की सीमा के अन्तर्गत सामग्री-संकलन होता है, किन्तु समालोचना और तुलना के लिये पारिपार्श्विक, समानान्तर, समसामयिक तथा अन्य प्रकार से संबद्ध सामग्री भी एकत्रित की जाती है। यह आवश्यक नहीं कि जितनी सामग्री इकट्ठी की जाती है, वह सभी काम में आ जाय। कुछ सामग्री छूट जाती है। परन्तु सभी के प्रकाश में अनुशीलन का कार्य चलता है।

(२) **पुस्तकालय और संग्रहालय**—सामग्री-संकलन के लिये पुस्तकालय और संग्रहालय का उपयोग करना पड़ता है। किसी पुस्तकालय अथवा संग्रहालय का उपयोग करने के पहले पुस्तकों अथवा संगृहीत वस्तुओं की सूची देखना आवश्यक है। अनुसंधान-विषय के लिये उपयोगी सामग्री की अपनी निजी सूची अन्वेषक को बनानी चाहिये, जो क्रमिक और वर्गीकृत हो। इसके पश्चात् सामग्री-संकलन का कार्य क्रमशः प्रारम्भ करना चाहिये।

(३) **अभ्यास और उपयोग**—शास्त्रीय अनुसंधान में अभ्यास और उपयोग के लिये अन्तर्दृष्टि दोनों आवश्यक है। नियमित अभ्यास से कार्य में कुशलता और कुशलता से सरलता आती है। अभ्यास से उपयोगी सामग्री की पहचान और उसके मूल्यांकन दोनों में शीघ्रता होती है। बीच-बीच में कार्य छोड़ने—अनभ्यास—से ग्रहण-शक्ति शिथिल और विचारों का सामंजस्य विषम हो जाता है। अभ्यास के साथ ही सामग्री का उपयोग सम्बद्ध है। क्रमशः सामग्री-संकलन के साथ ही यह पता लगता जाना चाहिये कि उसका कौन-सा भाग कितना उपयोगी है, जिससे अन्त में पूरी सामग्री का ऊहापोह न करना पड़े। इस प्रकार के मानसिक सम्पर्क से वांछित सामग्री शीघ्र सामने प्रस्तुत हो जाती है।

(४) **संग्रह और टिप्पणी**—पुस्तकालय तथा संग्रहालय में संग्रह और टिप्पणी का कार्य साथ-साथ चलना चाहिये। प्रत्येक संगृहीत सामग्री के साथ आवश्यक टिप्पणी होनी चाहिये। उसकी संगति, उपयोगिता, समालोचना आदि से सम्बद्ध बातों को अन्वेषक उचित स्थान पर टीप ले, क्योंकि जो उद्भावना सामग्री-संकलन के समय होती है वह संभवतः आगे भविष्य में न हो। इस कार्य में बहुत ही श्रम, सावधानी और धैर्य की आवश्यकता होती है।

## १२—पत्र-पद्धति

सामग्री-संकलन के लिये सबसे उपयोगी और अद्यतन पद्धति पत्र-पद्धति है। इसका अर्थ है कि जिल्दबद्ध ग्रन्थ अथवा पुस्तकाकार कागज पर सामग्री-संकलन

न करके स्वतंत्र अथवा छुट्टे पुर्जों पर ही उसे अलग-अलग अंकित करना चाहिये। इसका लाभ यह है कि प्रत्येक पुर्जे को आवश्यकतानुसार यथास्थान रखा जा सकता है, जबकि ग्रन्थाकार सामग्री को बार-बार उलटना पड़ता है, अथवा काटकर या पुनः प्रतिलिपि करके स्थानान्तरित करना होता है। एक शोध-निबन्ध के लिये कई सहस्र पुर्जों की आवश्यकता होती है। ये पुर्जे एक आकार और मोटे तथा टिकाऊ कागज़ के होने चाहिये। पुर्जे का ऊपरी बांया कोना पंच किया होना चाहिये जिससे एक विषय के पुर्जे एकत्र बाँधे जा सकें। पुर्जे पर विषय, शीर्षक, उपशीर्षक, ग्रन्थ-संदर्भ, अवतरण, टिप्पणी आदि के लिये स्थान निश्चित होना चाहिये। पुर्जे पर इनका अंकन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है :

| | |
|---|---|
| विषय | ग्रन्थ |
| शीर्षक | संदर्भ |
| उपशीर्षक | |
| अवतरण | |
| टिप्पणी | |

## १३—वर्गीकरण

पुर्जों पर अपेक्षित सामग्री संकलित हो जाने पर वर्गीकरण प्रारम्भ होता है। पत्र-पद्धति के कारण यह कार्य बहुत ही सुलभ हो जाता है। पुर्जों पर विषय, शीर्षक एवं उपशीर्षक का निर्देश होने से प्रायः स्वतः वर्गीकरण हो जाता है। वर्गीकरण की प्रायः दो पद्धतियाँ होती हैं—(१) गणितीय अथवा आंकिक और (२) अंगांगिक अथवा सेन्द्रिय। प्रथम शुद्ध गणितीय पद्धति का उपयोग भौतिक शास्त्रों के निर्जीव पदार्थों के वर्गीकरण में किया जाता है। मानव-व्यापारों अथवा तथ्यों के वर्गीकरण में इसका पूर्णतः उपयोग नहीं हो सकता। अतः मानवीय शास्त्रों के तथ्यों के वर्गीकरण में अंगांगिक अथवा सेन्द्रिय पद्धति का उपयोग किया जाता है। मानवीय तथ्यों के अनुशीलन में अंगांगिभाव का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके बिना निबन्ध की स्थापना में प्राण और मूल्य की सृष्टि नहीं होती।

## १४—संयोजन और निर्माण

वर्गीकरण विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। इसके द्वारा निबन्ध का अस्थिपंजर अथवा आकार-प्रकार खड़ा होता है। इससे निबन्ध का सुश्लिष्ट विग्रह नहीं

निर्मित होता। इसलिए वर्गीकरण के पश्चात् तथ्यों का संयोजन और निर्माण प्रारम्भ होता है। वर्गीकृत तथ्यों में भी एक तथ्य का दूसरे के साथ सम्बन्ध और एक विचार या भाव-समूह की शृंखला दूसरे से जोड़ना परम आवश्यक है। व्यक्ति, घटना, विचार, वातावरण सभी के निर्माण में सपिण्डीकरण और शृंखलन की प्रक्रिया अनिवार्य है। इसमें तथ्यों का परिष्कार और निबन्धन होता जाता है। यह कार्य क्रमशः होता है। अन्त में पूरा निबन्ध प्रस्थापना के रूप में प्रस्तुत होता है।

## १५—तुलना और समीक्षा

किसी स्थापना की परिपुष्टि केवल संयोजन और निर्माण-मात्र से नहीं होती। जो केवल एक ही विषय और उससे सम्बद्ध कुछ सीमित तथ्यों को जानता है वह उस विषय को पूरा नहीं जानता। अतः ज्ञान की परिपुष्टि एवं सम्पुष्टि के लिये तुलना और समीक्षा की आवश्यकता होती है। तुलना देश और काल दोनों में होती है। प्रस्तुत प्रस्थापना के तथ्यों के सदृश समानान्तर या समान तथ्य विभिन्न देशों में मिलते हैं। उनसे प्रस्तुत विषय की तुलना से समता, अभेद, पार्थक्य, विषमता आदि के अध्ययन से विषय का सर्वांगीण निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न देशों के समसामयिक तथ्यों से तुलना की जाती है, उसी प्रकार विभिन्न काल के सदृश अथवा समान तथ्यों से भी प्रस्तुत तथ्यों का मिलान विषय पर प्रकाश डालता है। वास्तव में ज्ञान का विस्तार देश और काल दो ही दिशाओं में होता है। इसलिए इन्हीं दो दिशाओं में प्रस्तुत विषय का प्रक्षेप और तुलना हो सकती है। प्रस्थाप्य विषय की समीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी तुलना। अनुसंधान की सभी प्रक्रियाओं और स्तरों के गुण-दोष, बलाबल, उपयोगिता-अनुपयोगिता, औचित्य-अनौचित्य का पूर्ण विचार समीक्षा में सन्निहित है। वस्तुतः अनुसंधान-कार्य में निर्माण, तुलना तथा समीक्षा तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं और तीनों के समुचित एवं संतुलित स्थान निश्चित होने चाहियें।

## १६—उपसंहार

प्रत्येक अनुसंधान-कार्य के अन्त में उपसंहार आवश्यक है। इसमें प्रथमतः अनुसन्धान का संक्षिप्त समाहार दिया जाता है। पुनः उपलब्धि एवं न्यूनता, सफलता और असफलता पर विचार किया जाता है। अन्त में पूर्वापर संकेत होता है। इसमें विषय के अतीत का परिचय और भविष्य में इसकी संभावनाओं की ओर निर्देश होता है। उपसंहार में प्रस्थापना के मुख्य निष्कर्षों का एक बार

पुनः निरीक्षण और समीक्षण भी आवश्यक है। इस प्रकार उपसंहार पूरे अनुसंधान कार्य का संक्षेप में परिचायक है।

## १७—लेखन

निबन्ध का सबसे अधिक कलात्मक अंग लेखन है। जिस प्रकार चित्रकार तूलिका से अंतिम रंग भरने के समय अपनी कृति को उच्चतम अभिव्यक्ति एवं व्यंजना प्रदान करता है, उसी प्रकार अनुसंधान करने वाला लेखक लिखने के समय अपने सम्पूर्ण निर्माण और विमर्श को अधिकतम अभिव्यंजक बनाता है। इसके पूर्व प्रक्रिया और प्रविधि का अधिकांश अंग यांत्रिक होता है। लेखन के समय ही उसे पूरा रूप और अभिव्यंजना प्राप्त होती है। निबन्ध के लेखन के समय उसके निम्नांकित अंगों पर विशेष ध्यान देना चाहिये :

(१) **भाषा**—वैसे तो सभी प्रकार के निबन्ध के लिये सुबोध और प्रांजल भाषा की आवश्यकता होती है। भाषा का सबसे बड़ा गुण है कि वह विचार-सम्प्रेषण और विचार-विमर्श एवं विचार-विनिमय में सक्षम हो। इसके बिना भाषा शब्द-समूहमात्र एवं बंध्या है। परन्तु अनुसंधान की भाषा की अपनी एक निजी विशेषता होती है। उसके लिये सुबोधता और प्रांजलता ही पर्याप्त नहीं। उसके लिये सर्वगम्य होना भी अनिवार्य नहीं। वह परिष्कृत किन्तु साथ ही शास्त्रीय, लाक्षणिक, पारिभाषिक, संतुलित एवं परिमित होनी चाहिये। इसमें न शब्द-बाहुल्य होना चाहिये न शब्द-दारिद्रय। वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असंभव-दोष से मुक्त होनी चाहिये। यह कहना अनावश्यक है कि अनुसंधान की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और परिमार्जित तथा कला के गुणों से युक्त होनी चाहिये।

(२) **शैली**—लेखन में प्रायः दो प्रकार की शैलियाँ पायी जाती हैं। (१) व्यक्तिगत एवं (२) वस्तुगत। काव्य की भाषा प्रायः व्यक्तिगत होती है अर्थात् उसमें लेखक का व्यक्तित्व स्थान-स्थान पर कलाकार के रूप में अभिव्यक्त होता है। अनुसंधान ने तथ्यों और विमर्श की प्रधानता होने के कारण लेखन की शैली वस्तुगत होती है, यद्यपि इसमें लेखक के व्यक्तित्व का पूर्ण अभाव नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि अनुसंधान की शैली का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक न होकर तथ्य और सत्य से अधिक होता है। व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण इस प्रकार की शैली को "अपौरुषेय" (पुरुष विशेष से असम्बद्ध) कहा जा सकता है।

(३) **विषय-नियोजन**—विषय के विविध अंगों का नियोजन इस प्रकार

होना चाहिये कि एक संतुलित और सुव्यवस्थित स्थापना प्रस्तुत हो सके। इसके अभाव में अनुसंधान के तथ्य बिखरे और विमर्श एवं निष्कर्ष असम्बद्ध दिखायी पड़ते हैं। अनुसंधान की अन्तर्संगति और कलात्मक व्यक्तित्व के लिये विषय का सुचिंतित नियोजन परम आवश्यक है।

(४) **ताथ्यिक ईमानदारी**—तथ्यों के संग्रह और उपयोग दोनों में अनुसंधान-कर्ता को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। याथातथ्य अनुसंधान की प्राथमिक आवश्यकता है। तथ्य अपने वास्तविक और शुद्ध रूप में प्रयुक्त होना चाहिये। लेखक के पूर्वाग्रह के कारण अपने पूर्व-निश्चित विचारों को पुष्ट करने के लिये उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन नहीं होना चाहिये। ऐसा नहीं होने से सम्पूर्ण स्थापना ही अशुद्ध और भ्रान्त होगी, अनुसंधान के द्वारा किसी सत्य पर पहुँचना असंभव होगा।

(५) **संयुक्तिक निष्कर्ष**—प्राप्त तथ्यों के संग्रह और संयोजन से जो भी निष्कर्ष निकाले जायें वे युक्तियुक्त होने चाहियें। ऐसा कोई भी निष्कर्ष नहीं होना चाहिये, जिसके लिए पर्याप्त प्रमाण और युक्ति न हो। ऐसा भी कोई निष्कर्ष नहीं होना चाहिये, जिसकी संदर्भ विशेष में अपेक्षा न हो। अन्वेषक के सम्मुख यह सूक्ति सदा उपस्थित रहनी चाहिये : "बिना मूल के कुछ न लिखा जाय, बिना अपेक्षा के कुछ न कहा जाय।" किसी भी प्रस्थापना का सैद्धान्तिक महत्व दो ही वस्तुओं पर अवलम्बित है—(१) ताथ्यिक ईमानदारी और (२) संयुक्तिक निष्कर्ष। कोई भी अन्वेषक इनको छोड़कर आगे नहीं चल सकता।

लेखन की उपर्युक्त मुख्य आवश्यकताओं के साथ सामान्य उपकरणों की आवश्यकता भी होती है, जिससे लेखन में लाघव, व्याख्या, परिपुष्टि, परिसीमा आदि का समावेश होता है।

(६) **संकेत-सारिणी**—निबन्ध में अनेक स्रोत और संदर्भ-ग्रन्थों का बार-बार उल्लेख करना पड़ता है। बारम्बार उनका पूरा उल्लेख समय और कागज का व्यर्थ दुरुपयोग है। अतः संकेत-सारिणी की परम्परा विकसित हुई। अक्षर-क्रम से स्वीकृत संक्षेप पद्धति से संकेत-सारिणी का निर्माण होना चाहिये और इसी का उपयोग निबन्ध में यथास्थान करना चाहिये।

(७) **पाद-टिप्पणी**—मूल स्रोत या पाठ, संदर्भ, पाठान्तर, व्याख्या अथवा अन्य कोई आवश्यक सूचना पाद-टिप्पणी में दी जाती है। निबन्ध के बीच में देने से, आवश्यक होने पर भी, उसके प्रवाह को ये अवरुद्ध करते हैं। पाद-

टिप्पणी की दो पद्धतियाँ हैं—(१) पृष्ठ के नीचे, अथवा (२) अध्याय के अन्त में। सर्वाधिक प्रचलित प्रथा पाद-टिप्पणियों को प्रति पृष्ठ के नीचे देना है, जिससे पाठक तुरन्त उनको देख सके। अध्याय के अन्त में टिप्पणियों को रखने से अधिकांश पाठक प्रमाद अथवा आलस्यवश उन्हें पढ़ते ही नहीं। हाँ, इस पद्धति से मुद्रण की सुविधा होती है। पृष्ठगत पाद-टिप्पणियों में क्रम-संख्या प्रायः प्रति पृष्ठ की अलग देते हैं, परन्तु पूरे अध्याय की क्रम-संख्या क्रमबद्ध देने की प्रथा भी है। अन्य निबन्ध अथवा ग्रंथ की अपेक्षा अनुसंधान में पाद-टिप्पणियों की आवश्यकता अधिक पड़ती है, क्योंकि प्रत्येक उक्ति अथवा निष्कर्ष के लिये प्रमाण देना अनिवार्य है।

(८) **ध्वनि-चिह्न**—दूसरे भाषा की ऐसी ध्वनियों को जो अपनी भाषा में नहीं मिलती हैं, ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये नये ध्वनि-चिह्नों का निर्माण और प्रयोग करना पड़ता है। अपनी भाषा में भी कई ध्वनियाँ व्यवहार में प्रयुक्त होती हैं, किन्तु लिपि में उनके लिये चिह्न नहीं होते। शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक लेखन में इनके लिये भी चिह्न बनाने पड़ते हैं। रोमन लेख-पद्धति में इसका काफ़ी विकास हुआ। नागराक्षर अपने उच्चारण की दृष्टि से वैज्ञानिक हैं और अधिकतम ध्वनियों को व्यक्त भी करते हैं, किन्तु विविध भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली सभी ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये ये भी अपूर्ण हैं। अतः नवीन एवं अतिरिक्त ध्वनि-चिह्नों की नागरी लिपि-पद्धति में भी आवश्यकता है।

(९) **लाक्षणिक एवं पारिभाषिक शब्द**—प्रत्येक शास्त्र के अपने लाक्षणिक अथवा पारिभाषिक शब्द होते हैं। प्रत्येक निबन्ध अथवा प्रस्थापना में इन शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। प्रत्येक निबन्ध के विषय में अथवा व्यक्तिगत अनुसंधानकर्ता की दृष्टि से नये पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। अतः यह आवश्यक और उपयोगी होता है कि ऐसी लाक्षणिक एवं पारिभाषिक शब्दावली को ग्रन्थ के अन्त में अर्थ के साथ दे दिया जाय जिसका उपयोग पाठक कर सकें।

(१०) **परिशिष्ट एवं अवतरण**—विमर्श या टिप्पणी जिनका अंशतः उपयोग निबन्ध के बीच में हुआ हो, किन्तु स्थानाभाव या निबन्ध के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने के कारण पूरे न दिये गये हों, पुनः ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट (विशिष्ट छूटे हुये अंश) के रूप में दे दिये जाते हैं। इनकी संख्या और विस्तार का प्रश्न निबन्ध के स्वरूप और आवश्यकता पर अवलम्बित है।

(११) **आधार-ग्रंथ सूची**—प्रत्येक निबन्ध आधार-ग्रंथों पर अवलम्बित है, किन्तु परिमितार्थ और परिसीमित होता है। उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा और बृहत्तर-रूप के दर्शन के लिये आधार-ग्रंथों का अवलोकन आवश्यक है। यह सूची केवल शोभार्थ नहीं, अपितु निबन्ध का एक आवश्यक अंग है। आधार-ग्रंथों के मोटे तौर पर दो विभाग होने चाहिये—(१) मूल ग्रंथ और (२) सामान्य ग्रंथ। इनके भी कई उपविभाग सुविधा के लिये किये जा सकते हैं, यह सूची ग्रन्थ अथवा लेखक के नाम के अक्षर-क्रम से प्रस्तुत होनी चाहिये।

(१२) **अनुक्रमणिका**—निबन्ध के बीच में नाम, शब्द, लेखक, ग्रन्थ, विषय आदि कहाँ और किस संदर्भ में आये हैं, इसकी जानकारी के लिये अनुक्रमणिका आवश्यक है। प्रत्येक पाठक प्रत्येक समय सम्पूर्ण निबन्ध को नहीं पढ़ना चाहता। वह अपने तात्कालिक उपयोग की वस्तु को निबन्ध में तुरन्त देखना चाहता है। इस कार्य के लिए अनुक्रमणिका उसकी सहायता करती है। अतः कोई भी महत्व का शास्त्रीय ग्रन्थ अनुक्रमणिका के बिना पूरा नहीं समझा जाता। अनुक्रमणिका की एक स्वीकृत वैज्ञानिक पद्धति है, जिसके अनुसार उसे तैयार करना चाहिये।

## (१८) अन्तिम चेतावनी

अनुसंधान सम्बन्धी निबन्ध प्रस्तुत करते समय कुछ बातें बराबर स्मरण रखनी चाहियें। पहली बात यह है कि अनुसंधान की प्रक्रिया सामान्य ग्रन्थ-लेखन से भिन्न है। सामान्य ग्रन्थ-लेखन में लेखक को स्वतंत्रता अधिक है, अनुसंधान में वह कई नियमों से प्रतिबद्ध है। सामान्य ग्रन्थ-लेखन में प्रसिद्ध तथ्यों के संयोजन से भी काम चल सकता है और लेखक स्वतन्त्रता से अपना परिणाम प्रस्तुत कर सकता है। उसे परीक्षा का भय नहीं, यद्यपि समालोचना की आशंका रहती है। अनुसंधान में नवीन तथ्यों की खोज का प्रमुख स्थान है, कम से कम प्रसिद्ध तथ्यों की नवीन व्याख्या तो अवश्य होनी चाहिये। इसी आधार पर अनुसंधान में विषय-प्रस्थापना की जाती है। यह बात ध्यान रखने की है कि अनुसंधान का प्रतिपाद्य "प्रस्थापना" है, "सिद्धान्त" नहीं। स्थापना का जब तक और व्यापक परीक्षण और पर्याप्त समय तक बहुमान्य विद्वानों द्वारा स्वीकरण नहीं होता तब तक वह "सिद्धान्त" का पद नहीं ग्रहण कर सकती। इसलिए किसी भी अनुसंधानकर्ता को सिद्धान्त का पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिये। उसके लिये सफल प्रस्थापना ही पर्याप्त है। सिद्धान्त का पूर्वाग्रह होने से वह

रूढ़ संघर्ष में पड़ जाता है और उसके भावी अनुसंधान का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वास्तव में अनुसंधान सत्य का मार्ग है, उसकी अंतिम मंजिल नहीं। सत्य के महान् एवं लम्बे तीर्थाटन में अप्रमाद तथा निरहंकार होकर यात्रा करनी चाहिये। सत्यान्वेषण के दूसरे यात्री भी उस मार्ग पर चल सकें, इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये। प्रस्थापना से दूसरों के लिये मार्ग का एक नया द्वार खुल जाय और वह सदा उन्मुक्त रहे, यही अन्वेषक की साधना होनी चाहिये।

# परिशिष्ट--(१)

## हिन्दी अनुसंधान गोष्ठी

### दिल्ली विश्वविद्यालय

### (१०-५-५६--२२-५-५६)

गत दो दशकों में हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में बड़ी द्रुत प्रगति हुई है। इस समय देश के बीस से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य पर अनुसंधान हो रहा है। प्राय: ढाई सौ शोध-प्रबन्ध अब तक स्वीकृत हो चुके हैं और इस समय लगभग ४०० अनुसंधाता पी-एच० डी० अथवा डी० लिट्० की उपाधि के लिए शोध-कार्य कर रहे हैं। अतः यह आवश्यक हो गया है कि :—

(१) विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोध-कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए;

(२) उपयुक्तता, प्रादेशिक परिस्थितियों तथा उपलब्ध साधनों के आधार पर हिन्दी अनुसंधान की एक व्यवस्थित योजना तैयार करने के लिए;

(३) अनुसंधाताओं की समस्याओं एवं कठिनाइयों का समाधान करने के लिए;

(४) अनुसंधान की प्रविधि एवं प्रक्रिया की प्रशिक्षा देने के लिए;

—उचित कार्यवाही की जाये।

स्पष्ट है कि इनमें से पहले दो उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अधिक समय एवं साधनों की आवश्यकता है। अत: दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कृपापूर्ण सहमति और सहयोग से उपर्युक्त

सूत्रों में से पिछले दो पर विशेष ध्यान रखते हुए १० से २२ मई, १९५९ तक दिल्ली में एक अन्तर्विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसंधान गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कला-संकाय (आर्ट्स फैकल्टी) भवन में सूचना और प्रसारण मंत्री डा० बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने किया। उद्घाटन-समारोह के सभापति दिल्ली-विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव थे। गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए डा० केसकर ने अनुसंधान-कार्य के महत्व एवं साहित्य की उन्नति में उसके योग पर प्रकाश डालते हुए गोष्ठी की सफलता की कामना की। डा० राव ने अपने अध्यक्षीय भाषण में गोष्ठी में सम्मिलित होने वाले विविध विश्वविद्यालयों के अनुसंधाताओं का स्वागत किया और हिन्दी में अनुसंधान-कार्य को आदर्श रूप देने के लिए विविध विश्वविद्यालयों की अनुसंधान-विषयक आयोजनाओं में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता प्रतिपादित की। आयोजन की एक विशिष्टता थी शोध-ग्रन्थों की प्रदर्शनी, जिसका उद्घाटन राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया। इसमें प्रायः १८० प्रकाशित-अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों का प्रदर्शन किया गया।

गोष्ठी में हिन्दी में अनुसंधान के विभिन्न पक्षों तथा समस्याओं पर १३ अभिभाषण हुए। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० राजबली पांडेय कारण-वश गोष्ठी में नहीं पधार सके—अतः उनके भाषण गोष्ठी में पढ़कर सुनाए गये। कार्यक्रम का विवरण इस प्रकार है:—

| | | |
|---|---|---|
| डा० वी० के० आर० वी० राव | — | अनुसंधान का स्वरूप तथा हिन्दी में अनुसंधान का आदर्श |
| डा० हरवंशलाल शर्मा | — | हिन्दी अनुसंधान की प्रगति (प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य के विषय में) |
| डा० सत्येन्द्र | — | हिन्दी अनुसंधान की प्रगति (आधुनिक साहित्य के विषय में) |
| डा० दीनदयालु गुप्त | — | अनुसंधान के प्रकार |
| प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी<br>डा० भगीरथ मिश्र | — | विषय-निर्वाचन |
| डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी | — | सामग्री-संकलन |
| डा० विश्वनाथ प्रसाद | — | भाषावैज्ञानिक अनु० |
| डा० ताराचन्द | — | ऐतिहासिक अनुसंधान |
| डा० माताप्रसाद गुप्त | — | पाठानुसंधान |

| | | |
|---|---|---|
| डा० सूर्यकान्त<br>डा० राजबली पांडेय | — | अनुसंधान की प्रविधि और प्रक्रिया |
| डा० नगेन्द्र | — | अनुसंधान और आलोचना |

प्रतिदिन अभिभाषण के पश्चात् अपराह्न में परिसंवाद होता था, जिसमें सदस्य लिखित प्रश्न करते थे और वक्ता सविस्तर उनके उत्तर दिया करते थे। इस प्रकार शोधार्थियों तथा विद्वान् वक्ताओं के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाता था और अनेक जटिल समस्याएं सहज ही सुलझ जाती थीं। इन परिसंवाद-सत्रों का सभापतित्व डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, श्री रमाप्रसन्न नायक आई० सी० एस०, श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस०, डा० यदुवंशी, प्रो० मोहनवल्लभ पन्त, डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० हरिवंशराय बच्चन तथा प्रो० कपिलदेवनारायण सिंह आदि विद्वानों ने किया।

देश के बीस विश्वविद्यालयों से लगभग ३० प्रतिनिधियों के अतिरिक्त १२७ विधिवत् नामांकित सदस्य तथा १२० प्रेक्षक गोष्ठी में भाग लेने आये। गोष्ठी में जिन विश्वविद्यालयों का प्रतिनिधित्व हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं—अलीगढ़, आगरा, वल्लभ विद्यापीठ, आनन्द, इलाहाबाद, उस्मानिया, काश्मीर, केरल, गोरखपुर, गुजरात, दिल्ली, पंजाब, पटना, बड़ौदा, बम्बई, बिहार, मराठवाड़ा, राजस्थान, लखनऊ, विक्रम तथा विश्व-भारती। गोष्ठी में सदस्यों की एक उपस्थिति-पंजिका रखी गई थी। जिन सदस्यों ने अभिभाषण तथा परिसंवादों में नियमानुसार भाग लिया उन्हें गोष्ठी के अन्त में प्रमाण-पत्र पाने का अधिकारी घोषित किया गया।

गोष्ठी का वातावरण आद्यन्त बौद्धिक बना रहा। प्रतिदिन प्राय: १५० से २०० तक की संख्या में गम्भीर अनुसंधाता बड़े सजग भाव से कार्य-क्रम में भाग लेते थे। कार्यक्रम अत्यन्त सुगठित एवं व्यस्त था : १३ मुख्य अभिभाषण हुए, ८ भाषण विभिन्न सभापतियों द्वारा दिए गए तथा प्राय: २०० प्रश्नों के सविस्तर उत्तर दिये गये। कुल मिलाकर २४ बैठकें हुई जिनमें लगभग ५० घंटे काम हुआ। यद्यपि प्रस्तुत गोष्ठी देश भर में अपनी तरह की पहली आयोजना थी फिर भी उसे बहुत सफलता प्राप्त हुई। गोष्ठी में भाग लेने वाले वक्ता, सभापति, विश्वविद्यालय-प्रतिनिधि, नामांकित अनुसंधाता तथा प्रेक्षक—सभी इस बात पर एकमत थे कि गोष्ठी को 'ग्रीष्म शोध-प्रतिष्ठान' के रूप में स्थायित्व प्राप्त करना चाहिए और उनके नियमित वार्षिक अधिवेशन होने चाहिए।

अनुसंधान-गोष्ठी का समापन-समारोह राष्ट्रपति-भवन में महामान्य राष्ट्र-

पति महोदय के आशीर्वाद के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर राष्ट्रपति जी ने अनुग्रहपूर्वक अधिकारी सदस्यों को प्रमाण-पत्र भी प्रदान किए। अन्त में गोष्ठी के संयोजक डा० नगेन्द्र ने गोष्ठी में भाग लेने वाले वक्ताओं, सभापतियों, विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियों, नामांकित अनुसंधाताओं तथा प्रेक्षकों का धन्यवाद किया, जिनके सहयोग से गोष्ठी का यह आयोजन सफल रहा : साथ ही विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अधिकारियों एवं दिल्ली विश्वविद्यालय और उससे सम्बद्ध कॉलिजों के हिन्दी प्राध्यापकों को उनके सहयोग के लिए साधुवाद देते हुए गोष्ठी का कार्यक्रम समाप्त किया।

**गोविन्दराम शर्मा**

१५ मई, १९६०

मंत्री, हिन्दी अनुसंधान गोष्ठी
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

# परिशिष्ट—(२)

## हिन्दी-अनुसंधान-गोष्ठी

### दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

[१९५९-६०]

**कार्य-समिति :—**

**संरक्षक :** डा० वी० के० आर० वी० राव,
उपकुलपति, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

**संयोजक :** डा० नगेन्द्र, आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग; अधिष्ठाता, कला-संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

**संयुक्त संयोजक :** डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक, रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

**प्रधान मंत्री :** डा० गोविन्दराम शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली ।

**कोषाध्यक्ष :** डा० विमलकुमार जैन, दिल्ली कॉलेज, दिल्ली ।

**विशेष सदस्य :**

डा० दशरथ ओझा,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली ।

**डा० ओमप्रकाश**
**अध्यक्ष, हिन्दी विभाग**
**हंसराज कॉलेज, दिल्ली ।**

डा० उदयभानुसिंह
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली कॉलेज, दिल्ली।

श्री भारतभूषण सरोज
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
रामजस कॉलेज, दिल्ली।

श्रीमती शांति माथुर
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
मिरांडा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

विभिन्न गोष्ठियों में हिन्दी-विभाग के निम्नलिखित प्राध्यापकों ने आयोजक और प्रतिवेदक का कार्य-सम्पादन किया :—

१. डा० दशरथ ओझा
२. डा० ओमप्रकाश
३. डा० उदयभानुसिंह
४. डा० रामस्वरूप शास्त्री
५. डा० हरभजनसिंह
६. डा० सत्यदेव चौधरी
७. श्री बलराज महाजन
८. डा० मनमोहन गौतम
९. डा० भरतसिंह उपाध्याय
१०. डा० उमाकान्त गोयल
११. डा० भोलानाथ तिवारी
१२. डा० सुरेशचन्द्र गुप्त

निम्नलिखित बन्धुओं ने गोष्ठी के निमित्त स्थानीय प्रतिनिधि का कार्य किया—

कलकत्ता—श्री कल्याणमल लोढ़ा; पटना—श्री नलिनविलोचन शर्मा; वाराणसी—डा० श्रीकृष्ण लाल; प्रयाग—डा० हरदेव बाहरी, डा० जगदीश गुप्त, श्री उमाशंकर शुक्ल; गोरखपुर—डा० गोपीनाथ तिवारी; लखनऊ—डा० भागीरथ मिश्र, डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित; कानपुर—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, श्री विश्वनाथ गौड़; आगरा—डा० टीकमसिंह तोमर, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'; अलीगढ़—डा० विजयपालसिंह, डा० मनोहरलाल गौड़; खुर्जा—डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, नैनीताल—डा० हरिवंश कोछड़; चण्डीगढ़—डा०

सरनदास भणोत; **जालन्धर**—कुमारी ए० कमला ( डी० ए० वी० कालिज ); **अम्बाला**—डा० संसारचन्द्र; **पटियाला**—डा० किरणचन्द्र शर्मा; **बरेली**—डा० गुणानन्द जुयाल; **सागर**—डा० कमलाकान्त पाठक; **देहरादून**—डा० नित्यानन्द शर्मा; **जबलपुर**—श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'; **जयपुर**—डा० सोमनाथ गुप्त, डा० सरनामसिंह; **पिलानी**—डा० कन्हैयालाल सहल; **मुरादाबाद**—डा० गोविन्द त्रिगुणायत ।